सोहम्



वाणी प्रकाशन

नयी दिल्ली-110002

सोहम्

विद्यानिवास मिश्र

ISBN—81—7055—235—4

वाणी प्रकाशन
4697/5, 21-ए, दरियागज,
नयी दिल्ली-2, द्वारा प्रकाशित
प्रथम सस्करण 1991

 मूल्य : 75 00 रुपये

नागरी प्रिंटर्स, दिल्ली-110032
मे मुद्रित

SOHAM
(A Collection of literary essays)
by Vidya Niwas Mishra

भूमिका

'सोहम्' मेरे कुछ ऐसे व्याख्यानों का संग्रह है जिसमे इस देश की सवेदना, इस देश के रसग्रहण, इस देश की मानसिकता और देश की इतिहासदृष्टि से जुडी हुई अस्मिता की तलाश है। उपलब्धि का दावा नही करना, पर तलाश की बेचैनी का दावा जरूर करता हूं, वह बेचैनी ही मुझे भारत के बारे में सचेत और भारत की विश्व दृष्टि के प्रति कृतज्ञ बनाये हुए हैं। ऊपर से देखने पर भले ही किसी को इन व्याख्यानो में कोई अन्विति न लगे, पर जरा भी गहराई मे उतरेंगे तो करुण रस की अवधारणा(जो 'उत्तररामचरित' मे साकार हुई है), सहृदय की अवधारणा, देश की अवधारणा, साहित्य की पहचान, लोक की पहचान, इतिहास की पहचान इन सबमें मैं वह सब हूं, जो वहाँ है, वहाँ पसरा हुआ है और जो चारो ओर से आकृष्ट कर रहा है, उस आकर्षण को अनुभव करने वाला पूरी समष्टि का तदीय बना ही मैं हूँ। अन्य से मैं का तादात्म्य ही भारतीय अस्मि की सार्थकता है।

मैं ऋणी हूँ उन संस्थानों का जिनकी प्रेरणा से ये व्याख्यान दिये गये, इनके नामोल्लेख प्रसार में यथास्थान कर दिये गये है और मै सबसे अधिक ऋणी हूं उन स्नेहमात्र जनों का जिन्होने अव्यवस्था के बीच से इन व्याख्यानों के लिपिबद्ध रूपो का उद्धार किया है। इनमें श्री पूनम दईआ, श्री दयाकृष्ण विजयवर्गीय, श्री अरुणेश नीरन, श्री उमेश दीक्षित और चि० श्री देवेन्द्र शुक्ल के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

मेरे ये व्याख्यानात्मक निबंध दर्शन तो अवश्य हैं, दार्शनिक चाहे न हो। इसी रूप मे मेरे पाठक इन्हे ग्रहण करें।

वाणी प्रकाशन के श्री अरुणकुमार ने सुरुचि से इसे छापा। उन्हे आशीर्वाद देता हूं।

श्री राधाष्टमी, 2048 वि०
काशी

विद्यानिवास मिश्र

प्रियवर अशोक बाजपेयी को
सप्रीति

1

करुण रस की अवधारणा : भवभूति के परिप्रेक्ष्य में

भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' की प्रशंसा मुक्तकंठ से पारंपरिक विद्वानो ने भी की है और पाश्चात्य विद्वानों ने भी, किन्तु प्राचीनों की प्रशंसा केवल आलंकारिक सूक्ति के रूप मे है। जैसे—'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते', 'भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरङ्गिणी', 'रुचिरा घनसन्दर्भे या मयूरीव नृत्यति', 'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते', 'भवभूते। सम्बन्धाद् भूधर भूरेव भारती भाति। एतत्कृत-कारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा' आदि।

इनमे कही भी भवभूति के उत्तररामचरितम् की नाटकीय विशेषताओ का विस्तृत क्या सक्षिप्त संकेत भी नही है। यहां तक कि करुणरस अंगीरस है तो इसका निर्वाह किस प्रकार आदि से अंत तक हुआ है और सुखांत होते हुए भी इसको करुणरस प्रधान ही नाटक मानना क्या उचित है, इस पर प्रकाश नही डाला गया है। केवल उदाहरण के लिए कुछ टीकाकारो ने बहुत सामान्य ढग से यह सफाई दे दी है कि करुण भी नाटक मे अंगीरस हो सकता है।

ननु तदेतन्नाटकमेव न भवति शृङ्गारवीरयोरन्यतरस्य रसस्य प्राधान्यमिति नियमात्, करुणरसस्यैव (अत्र) भूयस्तरत्वादिति चेत् सत्यम्, शृङ्गारवीरयोन्य-तरस्याङ्गित्वम् अन्येषामङ्गत्वेन प्रवेशो यद्यपि, तथापि, "प्रधानं योऽयमुख्यता, अन्ये त्वङ्गानि शृङ्गारवीरौ तु प्रायिकौ क्वचित्" इति नाटकमेवेति।

[घनश्याम, उत्तररामचरितम् की टीका।]

पाश्चात्य आलोचकों तथा उस ढंग के भारतीय समीक्षको ने उत्तररामचरितम् की प्रशंसा मुख्यत. तीन बातों के लिए की है :

1. मन के भीतर के अंतर्द्वंद्व की सफल अभिव्यक्ति उत्तररामचरितम् मे मिलती है, चाहे वह सीता के मन की हो, राम के मन की हो, जनक के मन की हो या लव-कुश और चन्द्रकेतु जैसे बच्चों के मन की हो।

2. उत्तररामचरितम् मे वर्णित प्रेम अत्यन्त ऊचे धरातल का है, उसमें

वासना का ज्वार नही है। वह एक प्रकार से स्नेह के सार में सिमटकर प्रेम का सत्वरूप है। उसकी एक आध्यात्मिक भूमिका है, क्योंकि वस्तुओं को जोड़ने वाला कारण कोई भीतरी होता है जो बाहरी कारणो की अपेक्षा नही करता है।

व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतु
न खलु बहुरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसित हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः। [उ० रा० च० 6-12]

शृगार के संभोगपक्ष का भी जो चित्र भवभूति ने पूर्वस्मृति के रूप मे खीचा है वह इतना सूक्ष्म और गहरे अपनेपन मे सराबोर है कि कही भी वह कामचेष्टाओ की अपेक्षा नही रखता है।

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासत्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण॥
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
-रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत् [उ० रा० च० 1-27]

प्रेम के सात्विक वर्णनो मे इस प्रकार भवभूति सस्कृत-कवियो मे अपने ढंग के अकेले कवि दीखते हैं।

3 भवभूति ने चित्रवीथी अङ्क, छाया अङ्क, और गर्भाङ्क के प्रयोग मे क्रमश प्रथम, तृतीय और सप्तम अङ्क मे अद्भुत नाटकीयता का परिचय दिया है। प्रथम अङ्क की प्रेरणा उन्हे रघुवश के 14 वें सर्ग से अवश्य मिली पर उसका नाटकीय विनियोग जिस रूप मे किया है, उनकी मौलिक उद्भावना चित्रवीथी अक मे ही आगे की घटनाओ का आभास मिलने लगता है। पिछली घटनाओ की काली छाया लम्बी होने लगती है। इसी अक मे दैवी शक्तियो की भूमिका का बीजवपन हो जाता है जब राम अस्त्र-देवताओ से प्रार्थना करते है कि मेरी सतान को भी जन्म से ही अस्त्र प्राप्त हों, भगवती भागीरथी से प्रार्थना करते हैं कि आप सीता की रक्षा करें, भगवती वसुन्धरा से प्रार्थना करते हैं कि वन मे सीता की देख-रेख आप करती रहे। ये तीनो दैवी शक्तियां राम के अनुरोध को स्वीकार करके समय पर कार्य करती हैं और नाटकीय प्रभाव की परिणति मे सहायक होती है। इसी अंक मे बहुउद्धृत पताकास्थानक (जिसे कुछ हद तक पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के अनुसार ड्रैमेटिक आयरनी या नाटकीय विडम्बना भी कहा जा सकता है) मिलता है। राम ज्यो ही कहते हैं कि

किमस्या न प्रेयो यदि पुनरसह्यो न विरहः।

त्योंही दुर्मुख के आने की प्रतिहारी से सूचना मिलती है "देव उपस्थित"। यहा पर असह्य विरह के उपस्थित होने की सूचना प्रेक्षक को होती है किंतु राम के प्रति प्रश्न पर तुरत सूचना मिलती है कि गुप्तचर दुर्मुख उपस्थित हुआ है। छाया अंक

के द्वारा राम को अपने भीतर छिपाये दुःख को अनावृत करने का अवसर मिलता है साथ ही अपने को, अपने राजधर्म को और इस लोक को जिसको प्रसन्न करने के लिए अपने प्राणो से प्रिय सीता का परित्याग किया, इन तीनों का उपालम्भ देने का अवसर मिलता है। छाया अक के इस सविधान के द्वारा ही कि सीता राम को देख सके, राम सीता को न देख सके, इससे यह भी सम्भव होता है कि सीता का अपमानदग्ध हृदय पुनः राम की करुण अवस्था से द्रवित होकर राम की ओर अभिमुख हो और बारह वर्षों के असह्य अपमान से अधिक दुःख उन्हे राम को आंखो से ओझल करते हुए हो। सातवें अङ्क में गर्भाङ्क का नाटकीय विनियोग अद्‌भुत और करुण का अपूर्व संयोजन कौशल दिखलाता है। इसी गर्भाङ्क के प्रयोग के द्वारा न केवल अलग-अलग बिखरे हुए कथासूत्रों का संयोजन तथा पिछली घटनाओ की तर्कसंगति परिणति दिखलायी जाती है प्रत्युत इसके साथ अत्यन्त सबल ढग से अयोध्या की प्रजा को उसके अपराध की ग्लानि का बोध कराया जाता है जिसके कारण सीता को पृथ्वी में प्रवेश की आवश्यकता नही पड़ती, अयोध्या के लोग भी जैसे धरती मे गड जाते हैं। पाश्चात्य ढंग के विवेचकों ने चरित्र-चित्रण के सौंदर्य पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है और जनक के चतुर्थ अङ्क के स्वगत आलाप की तुलना हैमलेट के टुबी आर नाट टुबी, (होना न होना) वाले प्रसिद्ध स्वगत आलाप मे करते हुए भवभूति की नाटकीय गरिमा की मुक्त-कंठ से प्रशंसा की है। कुछ ने बालस्वभाव के सहज वर्णन और सूक्ष्म परिहास की अभिव्यंजना मे भवभूति के कौशल की भी प्रशंसा की है। पहला उदाहरण चित्रवीथी में लक्ष्मण द्वारा चित्रों को दिखाते समय उर्मिला को छोडकर आगे बढने पर सीता की यह उक्ति— 'वत्स ! अयम् अपराध.' है। इस पर···लक्ष्मण लजा जाते हैं। अत्यन्त शिष्ट और मनोरम भारतीय वातावरण के परिहास का अनुपम उदाहरण हैं।

दूसरा उदाहरण है वाल्मीकि के आश्रम के बच्चे अश्वमेध के अश्व का वर्णन करते हैं। उन्होने पहले अश्व देखा नही है और उनके मनोभाव को पकड़ने में भवभूति कितने समर्थ है यह उस वर्णन से पता चलता है।

पश्चात् पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं।
दीर्घग्रीव. स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव ॥ (उ० च० 4-26)

और किस प्रकार लव बड़े-बूढे की तरह कहता है कि मूर्खो ! नही जानते कि अश्व नाम किसका है ? यह अश्वमेध प्रकरण मे आया है। और यद्यपि उत्सुकता उसके मन में स्वयं उसे देखने की है परन्तु बड़े भोले मन से कहता है कि देखिये देखिये ये सब मुर्गे लिए जा रहे हैं।

तीसरा उदाहरण सौधातकि का है जो वत्सरी के मांस के द्वारा मधुपर्क-विधान पर गहरा व्यग्य करता है। वसिष्ठ के आने पर कहता है कि 'वृकोऽथवा व्याघ्रो

वा'। पश्चिमी आलोचकों ने इस व्यंग्य के द्वारा नाटककार का यह अभिप्राय लक्षित किया है कि वे इस प्रथा को त्याज्य समझते थे और उनके समय यह प्रथा किसी-न-किसी रूप मे थी। (पश्चिमी आलोचको का यह सामाजिक निष्कर्ष वस्तुत. ठीक नही है। यह उल्लेखनीय है कि भवभूति अपने समय की सामाजिक दशा का वर्णन नही कर रहे हैं और यदि वे चोट करते भी हैं तो उसका उद्देश्य केवल प्रथा की नृशसता पर चोट करना नही है, उससे भी वडा उद्देश्य है और वह अधिक गहरा और नाटक के सदर्भ मे उपपन्न है। वह उद्देश्य है राजधर्म के लोकरंजक पक्ष की शिक्षा देने वाले वसिष्ठ पर चोट करना। उस लोकरजक धर्म मे राम का स्वधर्म दवता है और वही करुण का वीज वनता है इसलिए भी ऐसे लोकरजक व्यवस्था की नृशसता पर चोट करने के लिए यह वहाना वहुत ही नाटकीय वहाना है। चौथा उदाहरण है नाटक के अंत मे जव सीता राम से मिलती है तो लक्ष्मण प्रणाम करते है, 'अय निर्लज्जो लक्ष्मण. प्रणमति।' सीता उत्तर देती है—'वत्स, ईदृशस्त्व चिरञ्जीव।'

सीता के उत्तर मे न केवल विनोद है वल्कि एक मीठा उलाहना भी है। ऐसे सूक्ष्म परिहास, आक्षेप और सहज वर्णन की प्रस्तुति मे भवभूति सस्कृत के अन्य नाटककारो से विल्कुल अलग हैं जो विना विदूषक का सहारा लिए भी निर्मल-हास प्रस्तुत कर ही नही सकते।

पाश्चात्य ढग से सोचने वालो ने भवभूति मे अनेक दोपो की उद्भावना की है। एक तो यह है कि आवश्यकता से अधिक वर्णन वहुत है यदि द्वितीय और पञ्चम तथा षष्ठ के वहुत से अंश निकाल दिए जाय तो नाटक की वहुत क्षति नही होती उल्टे इनके रहने से नाटक वोझिल हो जाता है। वर्णन करने का यह उत्साह भवभूति की दुर्वलता है। और प्राय. वे 'मालतीमाधवम्', 'महावीरचरितम्' मे आये हुए वर्णनात्मक श्लोको को 'उत्तररामचरितम्' मे दुहराने का लोभ सवरण नही कर सके। ऐसे श्लोको की सख्या अनेक है।

दूसरा दोप उन्हें यह दिखाई पड़ता है कि भवभूति की भापा 'मोकुलि प्रचलाकी' जैसे अप्रचलित शव्दो के उपयोग के कारण, समस्त पदावली के कारण तथा अधिक वाक्यविन्यास के कारण भाववोध मे वाधक हो जाती है। दृश्यकाव्य मे भापा वहुत अधिक प्रवाहपूर्ण अपेक्षित होती है और उस दृष्टि से उत्तर-रामचरितम् की काव्यात्मकता चाहे इस प्रकार की भापा से क्षत न हो किंतु नाटकीयता अवश्य आहत होती है।

तीसरा दोष यह भी निकाला गया है कि राम जैसे धीरोदात्त नायक का फूट-फूट कर रोना और बिलखना नायक की मर्यादा के विरुद्ध है। इसी प्रकार नाटक के नायक राम के चरित की आलोचना लव के द्वारा अनौचित्य दोप लाती है, साथ ही कुश के द्वारा पष्ठ अङ्क मे वाल्मीकि रामायण से राम और सीता के प्रेम के

वर्णन का प्रसंग प्रस्तुत किया जाना तथा लव के द्वारा संयोग-शृंगार का सूक्ष्म-संकेत करने वाला श्लोक उद्धृत किया जाना भी अनुचित प्रतीत होता है। इसी शृंखला मे एक दोष और दीखता है, जनक जैसे राजर्षि अपना स्थितप्रज्ञरूप छोड़ कर सीता के त्याग से इतने विह्वल हो उठते हैं कि राम को शाप देने के लिए उद्यत हो उठते है, यह बात उनके जैसे ज्ञानी को शोभा नही ही देती। आलोचको की दृष्टि मे पदवाक्य प्रमाण-तत्वज्ञ भवभूति को भी शोभा नही देती कि वे राजर्षि जनक को ऐसे विकृतरूप मे चित्रित करे।

कुछ आलोचको को करुण का बार-बार प्रथन (काव्यशास्त्र की भाषा में दीप्ति) बहुत अस्वाभाविक और रसपरिपाक मे बाधक दीखता है। यह कुछ अति-रिक्त और कृत्रिम भी लगता है कि राम बार-बार मूर्छित होते है और सीता के स्पर्श से संजीवित होकर आनंद-पुलकित होने लगते हैं।

ऐसे आलोचको की दृष्टि मे पश्चिमी नाट्यशास्त्र की तीनो अन्वितियो का भग भी एक दोष दिखता है। बारह वर्ष के व्यवधान मे नाटक की घटनाए घटती है इससे कालअन्विति भंग होती है। अयोध्या, पचवटी और पुन वाल्मीकि आश्रम मे घटनाए घटती हैं। इससे देश-अन्विति भग होती है और इतने प्रकार के कार्यों से संकुल होने के कारण (अभिषेक, जामाता का यज्ञ, सीता-त्याग, शम्बूकवध, वासंती-प्रसग, अश्वमेध युद्ध और वाल्मीकि आश्रम के नाटक के बाद मिलन) कार्य-अन्विति भग होती है। अधिक-से-अधिक उनकी दृष्टि मे यह नाटक एक दार्शनिक कवि की मौलिक काव्यमय उद्भावना है जो वाल्मीकि, कालिदास और बाण तीनो के आत्मसात् करने के कारण सस्कृत-साहित्य मे अपना एक विशिष्ट स्थान बनाती हैं।

सही बात यह है कि गहराई से उत्तररामचरितम् की परीक्षा नही की गई है। सबसे पहले इसी दृष्टि से विचार करना चाहिए कि इस नाटक मे अङ्गीरस करुण का आदि से अत तक निर्वाह किस प्रकार हुआ है और किस प्रकार घटना-क्रम, समस्त पात्र और अन्य रसो के परिपाक इसमे सहायक है। भारतीय नाट्य-सिद्धांत तीन अन्वितियो पर आधारित नही है। वह रसनिष्पत्ति को केंद्र मे रखता है। वस्तु और नेता को उसके आगे गौण मानता है। यही कारण है कि पाश्चात्य दृष्टि से भारतीय नाटको के पात्र टाइप जैसे दीखते है जिसमे कुछ गुण पूर्व-निश्चित लगते हैं। परपरावादी टीकाकार भी करुणरस की अगिता का दूसरा उदाहरण न देख पाने के कारण करुणरस की नाटक मे निष्पत्ति का कोई निगम-नात्मक सिद्धात नही बना पाये और इसीलिए उत्तररामचरितम् की व्याख्या करने मे उन्होने रस-दृष्टि को ओझल करके सीता से पुनर्मिलनरूपी फल-प्राप्ति को ही ध्येय बनाते हुए नाटक ... यो की (मुख-प्रतिमुख, गर्भ-विमर्श और निर्वहण की) व्याख्या ... ान से देखने पर वह व्याख्या शुद्ध नही

प्रमाणित होती, क्योकि करुणरस का स्थायी भाव है शोक, ऐसा शोक जो इष्टनाश से उत्पन्न हो। इष्टनाश का अर्थ है ईप्सित या प्रिय-वस्तु का नाश। यह प्रिय-वस्तु व्यक्ति भी हो सकती है, धारणा भी हो सकती है, धर्म भी हो सकता है, इस पर ध्यान नही दिया गया है। पश्चिमी दृष्टि से ट्रैजेडी का मूल होता है आशाभग। उस दृष्टि से राम के मन मे एक आशा थी कि सीता परित्याग करके हम लोक को प्रसन्न कर लेंगे और इस कार्य का महत्त्व समझा जायगा। पर होता यह है कि लोग यह भूल जाते है कि सीता का त्याग भी हुआ है और उन्हें इसका भान ही नही होता कि राजा ने त्याग करके अपने को कितना तोड़ दिया। जिसको प्रसन्न करने के लिए त्याग किया जाता है वह राजा के दु ख को दुःख नही मानता और यही ट्रैजेडी का मूल बनता है। सीता के मिलने से भी यह ट्रैजेडी दूर नही होती, क्योकि तब भी लक्ष्मण से राम यही कहते हैं कि सीता की पवित्रता के बारे मे भगवती भागीरथी एव वसुन्धरा की बात मुझे क्यो सुनाते हो? लोगो से कहो, वे सुनें। इससे यही लगता है कि लोगो के प्रति अमर्ष नही जाता है और अत मे उनके मुख से कहलाया गया वाक्य और भी इसी स्थायी दु ख को रेखाकित करता है :

'सर्वमिदमनुभवन्नपि प्रत्येमि'।

मैं यह सब कुछ घटित होते देख रहा हू कि सीता को लोग लज्जित भाव से प्रणाम करते हैं, स्वय अरुधती उन्हे प्रतिष्ठित कर रही है पर मुझे विश्वास नही। इस तरह भौतिक मिलन होता तो है पर जो सीता-त्याग से मन मे गहरा विषाद घर कर गया है वह किसी सुख पर विश्वास नही होने देता। नाटक का प्रारभ सूने चौराहे से होता है और नाटक का अत इस दूसरे कथन से कि

'यद्वा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम्'।

अभ्युदय का यह स्वभाव ही होता है कि उस पर विश्वास न हो। उसके बारे मे मन मे खटका लगा रहे। इस प्रकार ऊपर से देखने मे सुखात है पर भीतर से आदि से अत तक यह नाटक करुणबोध से भीगा हुआ है। वह करुणबोध इतना प्रखर है कि वह राम जैसे गभीर व्यक्ति को उन्मथित कर देता है। नदियो के, वन-पर्वतो के हृदय को झकृत कर देता है। सब कुछ सहने वाली धरित्री को क्षुब्ध कर देता है। ब्रह्मज्ञानी जनक को निस्सग परमहस भाव से विचलित कर देता है। राम की आत्मग्लानि, वासती का कठोर उपालम्भ, जनक का उन्माद, एक ही घर के दो बच्चो मे युद्ध, अपने ही पुत्र द्वारा अपनी समीक्षा सुनने की विडम्बना, ये सारी बाते इस करुणबोध के परिपोष मे सहायक होती हैं और अपने-आपमे अलग इनका अनौचित्य हो भी तो करुण के परिपोषक होने के कारण इनका औचित्य बन जाता है। भारतीय दृष्टि से करुणबोध का स्वरूप केवल मनुष्य की असहायता या निरुपायता ही नही है। जैसा कि ग्रीक ट्रैजेडी मे देखने को मिलता है। जहा मनुष्य के विरोध मे देवता है और मनुष्य की नियति है। यहा मनुष्य के विरोध मे वह

स्वयं और उसका लिया गया अपने ढंग से विवेकपूर्ण पर आत्मघाती निर्णय है। राम ने सीता-त्याग का निश्चय स्वय लिया। उस समय वहां न वसिष्ठ थे, न कौशल्या और न अरुन्धती थी। राम के ऊपर ही अकेले निर्णय का भार हो, इसीलिए नाटककार ने द्वादश वर्ष के सत्र की नयी उद्भावना की है ताकि वे सभी लोग जब चले जाय तब राम अपने विवेक से ऐसा कठोर निर्णय ले और उस निर्णय का अभिशाप स्वयं झेलें। निर्णय लेते समय राजा हो जायं पर निर्णय लेने के बाद भी दो भागो मे विभक्त हो जाय—राजा राम और व्यक्ति राम। राजा राम एक निर्णय के बाद ऐसे ध्वस्त हो जाय कि फिर राजा राम के साथ व्यक्ति राम का कोई सबध न रह जाय, एकदम विच्छिन्न हो जाय। ज्योही राजा के परिवेश से बाहर आने का अवसर मिले, त्योही वह व्यक्ति राम और उसकी व्यथा ऐसी मुखरित हो उठे कि—

'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदय'।

पंचवटी से लौटने पर जब राम वाल्मीकि के आश्रम मे उतरते हैं तो वे अपना राजत्व भूल चुके हैं और पूरे तौर से पारिवारिक बन गये है। चन्द्रकेतु और लव से उनकी बातचीत इसी रूप मे होती है। क्रोध मे भरे हुए कुश आते है और राम केवल कुश का दर्पभरा रूप स्नेह से निहारते रह जाते है। और उन दोनो को पहचानने की कोशिश करते है; तर्क-वितर्क करते है कि ये सम्भवतः मेरे ही पुत्र है। पर ज्योही पूछना चाहते हैं त्योही उनकी आंखें भर आती है और लव-कुश बड़ी सहानुभूति से कहते है कि सीता के विरह मे रघुपति दु खी है, राम को इस तटस्थ आलाप से और गहरा आघात लगता है। वे फिर दूसरी ओर मुड़ जाते है और लव-कुश से कहते हैं कि रामायण से कुछ याद हो तो कहो। कुश निरीहतावश अत्यत मर्मभेदी प्रसंग उभारते हैं कि :

'प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।
गुणै रूपगुणैश्चापि प्रीतिर्भूयोऽप्यवर्धत॥'

(उ० रा० च० 6-31)

जिससे राम का दुःख बढ़ता ही जाता है और वे भूल जाते हैं कि मेरे सामने बच्चे हैं वे अपने सुखमय दाम्पत्य जीवन के स्मरण में खो जाते है। इतने मे ही लव एक दूसरा श्लोक पढते है.

'स्वदर्थमिव विन्यस्तः शिलापट्टोऽयमग्रत.।
यस्यायमभितः पुष्पैः प्रवृष्ट इव केसरः॥'

(उ० रा० च० 6-36)

और राम को लगता है कि कितने भोले होते हैं बच्चे, विशेष रूप से आश्रम मे पले हुए। यह नही सोचते है कि किससे कह रहे हैं, क्या कह रहे है। कारुण्य बोध को तीव्र करने मे बच्चो के द्वारा अनजाने ऐसा व्यापार जो पुत्र के लिए न उचित है न

कभी कल्पनीय है, इसलिए सफल है कि इस प्रकार की दारुण घटना घटित हुई जिसने पिता-पुत्र के बीच पहचान की राह काट दी है और इतने मे सुनायी पड़ता है कि वसिष्ठ, वाल्मीकि, कौशल्या, जनक आदि धीरे-धीरे उन बच्चों की लड़ाई की बात सुनकर आ रहे हैं और राम को लगता है कि कैसे मैं जनक के सामने उपस्थित होऊ ।

सातवें अक मे भी करुण और अद्भुत के उपनिबन्धन के लिए नाटक के भीतर जब एक नाटक प्रस्तुत होता है और सीता परित्याग के बाद की कहानी नाटक के रूप मे प्रस्तुत होती है तो राम वहां राजा के रूप मे कम व्यक्ति के रूप मे ही अधिक हैं। और बीच बीच मे यह भूल जाते हैं कि वे राजा हैं, वे पति और पिता-पुत्र और जामाता के रूप मे है। विभिन्न पारिवारिक सम्बन्धो के दबाव मे नमित होते हैं, दु खी होते हैं, लज्जित होते हैं और सन्तप्त होते हैं। सीता भी अपने पुत्रो से 12 वर्ष बाद मिलती हैं तो यह कहती है :

'चिरस्य परिष्वजेयां मां पुत्रः जन्मान्तरप्राप्तां जननीम् ।'

मानो मुझे दूसरे जन्म मे दोनो मिल रहे हो। बेटे मेरी गोद मे चिपके रहो। भव-भूति ने सीता को लड़को का दूध छूटने के बाद पाताल-लोक मे भिजवाकर कथा मे नया सन्निवेश इसी प्रयोजन से किया है कि सीता का दु ख राम के दु ख की तरह ऐकान्तिक हो। केवल अन्तर इतना हो कि सीता को पता हो कि मेरे दो पुत्र पैदा हुए हैं। वे वाल्मीकि के आश्रम मे पल रहे हैं किंतु राम को इसका भी पता न हो। बारह वर्ष का अन्तराल भी नाटक मे आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना न तो लव और कुश को इतने बडे रूप मे प्रस्तुत करके उनके कार्यों के द्वारा कारुण्य का पोषण कराया जा सकता था, न राम की, अन्तर्गूढ मन स्थिति की परीक्षा ही की जा सकती थी। बारह वर्ष तक अनवरत राम भूसे की आग मे जलते रहे।

'चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरत.
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजन. ।
कुकूलानां राशौ तदनु हृदय पच्यत इव ॥

(उ० रा० च० 6-38)

क्योंकि अपने विवेक से लिये गये निर्णय के परिणामस्वरूप इस जन्म मे क्या जन्मान्तर मे भी अपने द्वितीय हृदय सीता से मिलने का विकल्प नष्ट हो गया है। सीता से मिलन होता भी है तो टूटे हुए हृदय का मिलन होता है जो केवल कर्तव्य-पालन के लिए शरीर धारण किये हुए है और मिलने पर राम को इसीलिए उछ्वास नही होता है। वे अन्त तक पृथ्वी भगवती वसुन्धरा के आगे लज्जित ही रहते हैं। इस प्रकार इस नाटक मे करुणरस का बीज है। राम का अपना निर्णय, उसका प्रस्फुटन है। राजा राम और व्यक्ति राम के भीतर अन्तर्द्वन्द्व, जनक, कौशल्या और अरुन्धती का वाल्मीकि के आश्रम मे समागम और एक ही कुल के बच्चे के

विडम्बनाकारी युद्ध तथा अपने ही पुत्रों के द्वारा राम की निर्मम और तटस्थ आलोचना इसकी उत्कर्ष विन्दु है। देवताओ की सहायता से समाधान के अद्भुत संविधानक मे राम के चित्त की अप्रतीति मे ही इसकी परिणति है।

इस विश्लेषण को यदि हम सामने रखेंगे तो बहुत-सी बातें अपने आप सुलझ जाती हैं। प्रथम अंक मे ही प्रवेश करते राम कहते हैं :

'किन्त्वनुष्ठाननित्यत्वं स्वातंत्र्यमपकर्षति' (1-8)

गृहस्थ आश्रम मे स्वतन्त्रता और नाटककार इस ओर इंगित करता है कि सामाजिक संयुक्तता और व्यक्तिगत निष्ठा मे यदि सन्तुलन चूक जाय तो मनुष्य के लिए कितना दारुण हो सकता है। इसीलिए वह सामाजिक सम्पृक्तता के अतिशय पर निरन्तर आघात करता रहता है। द्वितीय अंक के प्रारम्भ मे ही आता है :

'तदपि न पराधीनमिह वः'

वन मे भौतिक सुख न भी मिले किन्तु वन के जीवन मे व्यक्ति की निष्ठा का मूल्य है और यहा पराधीनता नही है। राम और सीता दोनो ही वन मे रमने वाले है। वन उन्हें बार-बार बुलाता है, क्योकि वन ही इन दोनो के शुद्ध स्नेह का साक्षी है। वन ही भाग्यशाली है कि जगत की आत्मा और उनकी अमृता कला के साहचर्य के असख्य क्षण एक-दूसरे मे जुडे हुए हैं पर एक-दूसरे से हरएक विशिष्ट देखता रहे। वन मे जाते ही 'वज्रादपि कठोर' राम 'कुसुमादपि मृदु' हो जाते है और एक चिरविस्मृत दबे हुए सख्य, प्रेम और वात्सल्य उभर आते है। राम और सीता के साहचर्य के क्षणो के साझीदार वन, वन-देवता, वन के प्राणी, नदी, पर्वत सभी है। इसलिए इन वस्तुओ का वर्णन निरा वस्तु-वर्णन नही है। वह सजीव और पौरजानपद तटस्थ प्रजाजन की अपेक्षा अधिक सवेदनशील आत्मीयो के साक्षात्कार का वर्णन है। इसीलिए वह नाटक मे केवल अनुपयोगी नही है, अपितु अत्यन्त सार्थक भी है, क्योकि राम के दु.ख को बांटने के लिए प्रत्यक्ष रूप मे गगा, गोदावरी, तमसा, मुरला, वनदेवता, वासन्ती सभी ऐसे प्रस्तुत किये गये हैं मानो वे अयोध्यावासियो के अकरुण व्यवहार के विरोध मे कवि द्वारा प्रस्तुत एक अलग मानवीय सवेदनाओ के साकार प्रतिमान है। भारतीय दृष्टि से विवेकशील प्राणी के रूप मे न देवताओं को विरोध मे पाती हैं, न नियति को पाती है। पाती है विरोध मे उसकी असन्तुलित सामाजिकता को और नागरिक जीवन की कृत्रिम औपचारिकता को जिसके दबाव मे विवेकशील मनुष्य अपने विवेक का प्रतिकूल विनियोग कर बैठता है। इस नाटक मे सारी लडाई इस बात को लेकर है कि प्रजा को प्रसन्न करने मे राजा का नाम होता है और यह कीर्ति ही 'परम धन' या आज की शब्दावली मे चरम जीवन मूल्य है या नही।' नाटककार का स्पष्ट संकेत है कि यह चरम मूल्य नही है। लोगों की वाहवाही लूटने के लिए स्नेह, दया, सुख और इन सबके ऊपर जानकी को छोड़ने मे कोई मूल्यवत्ता नही है, क्योकि इनको छोड़ने का अर्थ अपनी

आत्मा से और उसकी अमृताकला से विछुडना होता है। भवभूति न निराशावादी है न दु खवादी, किन्तु वे मनुष्य को मनुष्य बनाने वाली करुणा के पारखी है और इसीलिए जब वे पूर्व अनुभूत दु ख की बात करते है तो कालिदास की तरह यह वही कहते हैं कि उन दु खो का स्मरण सुखरूप हो।

स्मृतानि दु खानि सुखान्यभूवन् (रघुवश 14 सर्ग)

वे कहते है कि उस समय तो रावण द्वारा सीता के हरे जाने पर दु ख इसलिए सह लिया गया कि रावण के उस अपकर्म का प्रतिकार करना था, पर जब वही दु:ख फिर से मन मे स्मृतिरूप मे सुलगता है तो हृदय के घाव की तरह से कष्ट पहुचाने लगता है। राम के इस कथन मे भवभूति अपना जीवन-दर्शन स्थापित करते हैं कि वस्तुतः दु ख से अधिक दु.ख की भावना, करुणा का मूल कहलाती है। राम के इसी वाक्य के बाद सीता कहती हैं कि मै भी इस स्मरण से ऐसा अनुभव कर रही हू जैसे मेरे पास आर्यपुत्र न हो।

ऐसा लगता है एक मृग का लोभ पहले विरह का कारण बना, अब लोक-सग्रह का दूसरा लोभ तुरन्त विरह का कारण बनने जा रहा है, इस ओर सकेत करने के लिए ही बार-बार पिछले वियोग के सन्दर्भ उभारे गये है और उसके साथ-ही-साथ नाटकीय विडम्बना के रूप मे सीता के द्वारा ही इच्छा व्यक्त की गयी है कि मै पुनः उन्ही प्रसन्न गम्भीर वनराजियो मे विहरना चाहती हूं और पवित्र, सौम्य, शिशिरावगाहा गगा मे स्नान करना चाहती हूं और यह इच्छा व्यक्त करके राम की बाहो का तकिया लगाकर सो जाती है। राम इस सुख का भी वर्णन करते समय यह कहते है .

विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दु खमिति वा।
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्प. किमु मदः।
विकारश्चैतन्य भ्रमयति च सम्मीलयति च ॥
(उ० रा० च० 1-35)

सुख-दुःख का ऐसा तादात्म्य सुख और दु.ख की साधारण कल्पनाओ से ऊपर उठता है। उसकी गहराई मे यह पता नही चलता कि यह नशा है, जहर है या मूर्च्छा है, जागरण है, स्वप्न है, मोह है; क्योकि इसमे केवल चैतन्य चचल होता है फिर स्थिर होता है। करुण की भूमिका के रूप मे ही इस गहरी आत्मीयता के चित्र प्रस्तुत किये गये है। चित्रवीथी अक वस्तुतः आगे घटित होने वाला प्रत्येक घटना के बीज का वहन करता दिखाई पडता है। कुत्ते के काटने के जहर की उपमा भवभूति ने तो सीता के सम्बन्ध मे फैले हुए अपवाद के उपमान के रूप मे दिया है, उसका अर्थ यही है कि जिस प्रकार यह जहर बादल उमडने पर उभर जाता है उसी प्रकार सीता के चारित्र्य के बारे मे सन्देह भी रावण-विजय के अनन्तर पुनः राम अभिषेक को आनन्द-वर्षा के समय उभरा। ऐसा लगता है कि जैसे राम का जीवन ही इस

जहर से पूरा काला पड़ गया हो। विजय के उपरांत उन्होने अपने अनुचरों के मन में विश्वास जगाने के लिए अग्नि-परीक्षा ली और यह परीक्षा भी उन्होने अपने अन्त.करण के विरुद्ध ली । पुनः अभिषेक के समय पौर-जनपदो के मन में राजा और रानी के सम्बन्ध मे ऊंची धारणा बनाने के लिए सीता को दूसरी कठिनतर परीक्षा मे छोड़ने का निश्चय किया जैसे यह विष केवल दबा हुआ था, मौका मिलते ही फिर इसे उमड़ना ही था । सीता का त्याग करते समय भी राम के मन मे एक गहरा अन्तर्द्वन्द्व था। वे सीता को दोष नही देते, दोष देते हैं अपने को। लोकानुरंजन के लिए यह नृशस कर्म करने जा रहा हूं, मै स्वय विपद्रुम हूं और अपूर्वकर्म चाण्डाल हू :

अपूर्वकर्मचण्डालमयि मुग्धे विमुञ्च माम्।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम् ॥ (उ० रा० च० 1-46)

प्रथम अंक के अन्त मे जो राम का स्वगत आलाप है वह स्पष्ट करता है :

हन्तहन्त, सम्प्रति विपर्यस्तो जीवलोक.।
अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य । शून्यमधुना जीर्णारण्य जगत्।
....अयं पश्चिमस्ते रामशिरसि पादपकजस्पर्शः ॥

कि राम के लिए संसार उलट-पुलट गया, ससार सूना हो गया, शरीर काठ हो गया । राम मे चैतन्य, सिर्फ कर्तव्य-बोध के लिए वर्तमान है । मानो प्राण तीर की तरह हृदय मे गाड दिये गये है ।

दुःखसवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम्।
मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि ॥ (उ० र० च० 1-47)

वे अपने सभी गुरुजनो, मित्रो को सम्बोधित करते हुए कहते है कि मैंने सबको धोखा दिया है, क्योकि मै जो काम कर रहा हू इसमे न किसी की सम्मति है न सम्मति की सम्भावना ही है। मै अपनी आसन्नप्रसवा गृह की लक्ष्मी को जो विश्वासपूर्वक मेरी छाती पर पड़कर सो गयी थी, क्रव्यादों की मर्जी पर राक्षसो के बलि के लिए घोर जगल में फेंकने जा रहा हू । भवभूति को बराबर इसका ध्यान रहता है कि जब इस प्रकार आवेगमय क्षण का विवरण उपस्थित हो तो वे ध्यान मोडने के लिए कोई-न-कोई दूसरी घटना उपस्थित कर देते हैं जो नाटकीयता की दृष्टि से सर्वथा उचित है । इसी समय लवणासुर के अत्याचार का समाचार आता है और राम उसके निराकरण के प्रबन्ध के लिए पुनः राजा बनकर रोते हुए उठ जाते हैं । सीता जगती है और उन्हे याद आता है कि उन्होने कोई स्वप्न देखा है--- राम नही है और उन्हे एकाएक बडा सूना लगता है और फिर कहती है कि यदि वे मिले तो उनके ऊपर कोप करूंगी, बशर्ते कि यदि उनके मिलने पर अपने ऊपर काबू रख पाऊ और प्रिय के प्रति ऐसा अर्पित भाव लिये वे रथ पर चढ़ जाती है। प्रथम अंक यहीं समाप्त होता है ।

द्वितीय अंक जिसे आलोचक अनावश्यक मानते हैं वासन्ती और आत्रेयी के सवाद से शुरू होता है। इस सवाद मे जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, वनदेवता वासन्ती वन की स्वाधीन और पवित्र जीवन की प्रशसा करती है। उसके उत्तर मे आत्रेयी वनवासियो के सहज, विशुद्ध और मधुर कल्याणमय स्वभाव की चर्चा करती है। ये दोनो आशसाए मानो अयोध्या के विपाक्त एव क्षुब्ध वातावरण के प्रतिलोम के रूप मे उपस्थित की गई हो। इस विष्कभक का उपयोग वारह वर्षों के भीतर घटित घटनाओ की सूचना देने के लिए तो है ही, अत्यन्त नाटकीय ढग से लव-कुश के जन्म, वाल्मीकि द्वारा लालन-पालन की, प्रतिमा के वारे मे सूचना देते हुए रामायण-कथा के प्रथम श्लोक को उल्लेख करने के लिए भी है, क्योकि उसी के द्वारा यह सिद्ध होता है कि स्वय रामायण करुणरस-प्रधान है। कवि का शोक ही प्रथम श्लोक के रूप मे अवतरित हुआ है। वार्तालाप के कितनी दूर जाने के वाद आत्रेयी को सूचना मिलती है कि पचवटी के द्वार पर वासन्ती उपस्थित है और उनके सामने एकाएक सारी वाते स्पष्ट हो जाती है कि यही पचवटी है, यही प्रस्रवण गिरि है और सामने खडी यही वासन्ती है। जानकी के निर्वासन की स्मृति वहा आ जाती है और वे उसकी सूचना वासन्ती को देती है। आत्रेयी को सीता के वारे मे और कोई जानकारी नही है। वासन्ती पूछती है कि आर्या अरुन्धती-कौशल्या आदि के रहते हुए भी क्या ऐसा हुआ ? आत्रेयी उत्तर देती है, ऐसा नही। वारह वर्षों के वाद ऋष्यश्रृग का यज्ञ जव समाप्त होता है तव अरुन्धती ने कहा कि मैं सीताविहीन अयोध्या मे नही रहूगी। उनके अनुरोध से वसिष्ठ का मन भी वाल्मीकि के आश्रम मे रहने को ही जाता है। वाल्मीकि का आश्रम नृशसता से वचने के लिए करुणा का आश्रम है। आत्रेयी भी कई किश्तो मे सूचना देती है कि राम ने सीता की प्रतिमा वनवाकर अश्वमेध यज्ञ प्रारम्भ किया है और लक्ष्मण के पुत्र चन्द्रकेतु उसके साथ चले हैं। इसी वीच मे अधोमुख धूम्रपान करने वाले तपस्वी शम्वूक को मारने के लिए राम दण्डकारण्य आ रहे हैं। वासन्ती को यह सूचना देकर आत्रेयी चलती है। वासन्ती कहती है दिन चढ़ आया है और मध्याह्नकाल के ताप से प्रकृति मे आयी हुई शिथिलता का एक चित्र प्रस्तुत करती है। जिसमे छोटे-छोटे कीडो के शिकार करते हुए पक्षी हैं, पेड़ के तने पर खुजली मिटाने वाले हाथी हैं और उन हाथियो के रगड से फल झहराने वाले पेड़ हैं। जैसे--हिसा, ताप, भय, थकान इन सवका परिणाम पुष्पाजलि मे होता है। यह वर्णन वस्तुतः उत्तररामचरितम् नाटक के दूसरे खण्ड के सूक्ष्म सकेत के लिए है। राम राजा के कठोर कर्तव्य के कारण शम्वूक को मारने आते हैं और अपने हाथ से कहते है कि तुम क्यो हिचकते हो, तुम राम के हाथ हो। तुमने गर्भ के भार से शिथिल सीता को निर्वासित किया है, तुम्हे कहां से करुणा हो रही है। शम्वूक के लिए यह हिसा वरदान होती है और वह दिव्य पुरुष वनकर राम का आशीर्वाद प्राप्त

करता है कि आप दण्डकारण्य मे मेरे ही भाग्य से आये। राम को अपनी परिचित भूमिका स्मरण होते ही ऐसा लगता है कि वे पुन. दण्डकारण्य मे अकेले निर्वासित होकर घूस रहे है। जब शम्बूक के भयावह पक्ष का चित्र खीचते हैं कि वन इसलिए भी आज भयानक है कि पहले इसमे राम की प्रिया वैदेही थी और उसके साथ ऐसे प्रेम के क्षण थे जिसमे प्रिय का सुखी होना ही दु.खो को दूर कर देता है :

न किञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥ (उ० र० च० 2-9)

किन्तु आज यहा न तो राम के साथ उनकी प्रिय सीता है न वे सुख के क्षण ही हैं। पुनः शम्बूक जब वन के कोमल पक्ष का चित्र खीचता है तो राम अपने उस आरण्यक गृहस्थ जीवन का स्मरण करते है कि वह गृहस्थ जीवन आज के जीवन से अधिक सार्थक था, क्योकि राम पर गृहस्थी दुर्वह बोझ नही थी और राम अपने सुख के क्षणो को देखते हुए वे एकदम विकल हो उठते है। जो घाव ऊपर-ऊपर सूख चला था फूट पडता है तथा बारह वर्षो का पुराना शोक नया हो उठता है, जैसे कोई देर में असर करने वाला जहर एकदम तेजी से फैलने लगे :

चिराद्वेगारम्भी प्रसृत इव तीव्रो विषरस.
कुतश्चित्संवेगात्प्रचल इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पूरा भूत शोक विकलयति मां नूतन इव॥
(उ० र० च० 2-26)

यही राम प्रकृति के चित्र और अपने जीवन के चित्र का एकीकरण देखते है।

पुरा यत्र स्रोत. पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यास यातो घनविरलभाव क्षितिरुहान्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेश शैलानां तदिदमिति बुद्धि द्रढयति॥
(उ० र० च० 2-27)

राम के जीवन मे जहाँ प्रेम का रसस्रोत था वहाँ रेत-ही-रेत है, जहाँ घनी छाया थी वहाँ खालीपन है और जहाँ बीच मे एक रमणीय खुली हुई जगह थी वहाँ दुनिया के जजाल का जंगल। सारा ससार जैसे पराया हो गया हो। केवल पहाड अपनी जगह पर स्थिर हैं और राम के राज्यपालक रूप की कठोरता यह पहचान कराने के लिए वैसी ही दैदीप्यमान है कि तुम वही राम हो। अब सोचा जाय तो क्या इस प्रारम्भिक भूमिका के बिना राम का पंचवटी मे प्रवेश और आत्मग्लानि और अपने आत्मीयो से पुनः भेंट करके अपने दुःखमय स्वरूप को पहचानने का अवसर देना उपयुक्त होगा ? क्या प्रतीकरूप मे नृशसता की पुनरावृत्ति और उसके साथ ही सहज स्निग्धता का पुन. स्फुरण तथा वन के परुष और कोमल पक्षो मे

अपने ही जीवन के वर्तमान दु खमय पक्ष और विगत जीवन के कोमल पक्ष की समानान्तरता की उद्भावना नाटकीय प्रयोजन से रहित है ?

तृतीय अक का प्रारम्भ मुरला और तमसा की भेट से होता है। मुरला गोदावरी के पास लोपामुद्रा का सन्देश देने जा रही है कि वे अपनी लहरियो के स्पर्श से सन्तप्त राम को सीचती रहे, क्योकि निश्चय है कि जो पीड़ा भीतर दबी हुई थी वह एकाएक उभड़ आयेगी। तमसा भगवती भागीरथी द्वारा सीता की सहचरी के रूप से नियुक्त की गयी है और वह सूचना देती है कि राम पचवटी मे आकर निश्चय ही पुरानी यादो से ऐसे व्यथित होगे कि वे मूर्छित हो सकते हैं। इसलिए पाताल-लोक से ऊपर सीता इस पृथ्वी लोक मे भेजी गयी है कि वे अपने बच्चो के द्वादश वर्षपूर्ति का मागलिक अनुष्ठान सम्पन्न करेगी और उन्हे वे दृश्य नही होगी इसलिए पंचवटी मे राम मूर्छित हुए तो अपने स्पर्श से पुन. जिला सकेगी। तृतीय अक मे राम तीन बार मूर्छित होते है। पहली बार पंचवटी मे प्रवेश करते ही।

"हां देवि, दण्डारण्यवासप्रियसखि विदेहराजपुत्रि।" कहते हुए मूर्छित हो जाते हैं। जैसे पहला ही दर्शन एकदम असह्य हो उठा हो और सीता आतुर हो उठती हैं। तमसा के कहने पर स्पर्श करती हैं और राम फिर से होश मे आते हैं तथा वे जागरण और स्वप्न के बीच तर्क-वितर्क करते है—यह स्पर्श तो परिचित है। उठ बैठते है और सीता को पुकारते हैं, फिर मन में सोचते है कि यह मेरा भ्रम है। यहां पर दु.ख का सवेग पुनः एक शिखर पर पहुच रहा है इसलिए नाटककार घटना को दूसरी ओर मोडता है और सीता के पाले हुए हाथी के ऊपर एक आक्रमण की सूचना नेपथ्य से सुनायी पडती है और राम करुण से वात्सल्य और वात्सल्य से क्रोध मे उतरते हैं। इतने मे सूचना देने वाली वासन्ती सामने आती है और राम तथा वासन्ती उस हाथी के बच्चे की ओर जाते है और उसे वधू के साथ देखकर एक विस्मय-मिश्रित वात्सल्य से उच्छ्वसित हो उठते हैं। इस प्रकार के अन्तराल की उद्भावना करने का उद्देश्य ही यही है करुण की तीव्रता को पुनः क्रमश विस्मय, वात्सल्य, श्रृंगार की भूमियो से नये तीव्रतर शिखर पर पहुँचाया जाय। जो गहराई से इस परिवर्तन को नही देखते उनको राम का बार-बार बेहोश होना अस्वाभाविक लगता है पर राम की बेहोशी करुणरस की निष्पत्ति में एक कडी मात्र है। वस्तुतः राम की बेहोशी से अधिक उस बेहोशी का आने का क्रम महत्त्वपूर्ण है और यह क्रम नये-नये प्रसग उभारता है। पहले तो केवल आकस्मिकता का झटका देता है। छाया अक की सयोजना ऐसी है जिसमे एक भूमि पर सीता और तमसा है तथा दूसरी भूमि पर वासन्ती और राम। तमसा और सीता छाया मे है। इससे या तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रकाश की ऐसी व्यवस्था है कि राम वासन्ती के ऊपर प्रकाश अधिक है या तमसा और सीता निचली भूमि

पर है, राम और वासन्ती ऊपरी भूमि पर है जिससे दृश्य-संयोजन सम्भव हो सकता है। उस झटके के कारण राम एकदम शुद्ध पुराने राम हो जाते है और सीता पुन: पचवटी की सीता हो जाती हैं राम के दु ख मे दु.खित—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्
वियोगे दीर्घेऽस्मिञ्झटितिघटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढ़करुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन्क्षण इव॥

(उ० रा० च० 3-13)

यह झटका एक ओर राम को शोकविह्वल करता है तो दूसरी ओर सीता के हृदय से अपमान का शल्य निकालकर उस सकल स्नेही हृदय को राम की ओर अभिमुख करता है।

दूसरी बेहोशी के पूर्व सीता और राम दोनो वात्सल्य से भर उठते है। और सीता को दु ख होता है कि राम ने मेरे बच्चो का मुंह नही चूमा और यह वात्सल्य दोनों को एक करके करुण मे निमज्जित करता है। वासन्ती सीता के पाले हुए मोर की श्रीवृद्धि दिखलाती है और राम को याद आता है कि किस तरह सीता ने इसे बच्चे की तरह पाला था, किस तरह भौंह नचा-नचाकर इसे नाचना सिखाया था, और इतने मे ही एक कचोट उठती है कि यह मोर उस कदम्ब पर बैठा हुआ है जिसे सीता ने लगाया था। पक्षी भी परिचय मानता है।

"हन्त तिर्यञ्चोऽपि परिचयमनुरुध्यते।"

और एक हम है जो मनुष्य होकर इतना बड़ा विश्वासघात कर बैठते है। इतने मे वासन्ती उस शयनीय शिलातल पर राम को बैठने के लिए कहती हैं जहां वे सीता के साथ बैठे रहते थे और सीता हरिणो को तृण चुगाया करती थी। और राम के लिए उसे देखना अशक्य हो जाता है। सीता को भी लगता है कि वासन्ती क्या कर रही है। यह सब कुछ वही है लेकिन मै कैसी अभागिन हूं कि यह सब कुछ मेरे लिए नही रह गया है। वासन्ती अलग एक उन्माद के भाव में भूल करके कि सीता नही है, सीता को उलाहना देती है। सखी, किस तरह जो अपनी प्राकृत कांति के कारण पहचान मे आ सकते है उन राम को नही देख रही हो कि कैसे वे हो गये हैं, और कैसे इस दशा मे भी आखो को प्रिय लगते है। सीता वासन्ती का मानो उत्तर देते हुए कहती हैं कि सखि! मैं देख रही हू और इस देखने मे सीता की दृष्टि दुग्धधवल हो जाती है। सारा कलुप, सारा मान धुलकर केवल प्रिय के लिए पूर्ण रूप से अर्पित भाव आंखो मे उमड़ आता है।

वासन्ती पुन. यथार्थ में उतरती है और एक मधुर उलाहना देती हैं कि इस वन में देव राम स्वयं आये हैं। वनस्पति, पशु-पक्षी सभी स्वागत करते है, क्योंकि ये राम मनुष्य नही हैं। कुशल प्रश्न भी पूछती है तो महाराज! "अपि कुशलम् कुमार

लक्ष्मणस्य ।" सखी के वारे मे प्रश्न नहीं, राम के वारे में प्रश्न नही केवल कुमार लक्ष्मण के सवंध मे प्रश्न । पहले तो राम के कान उधर नही जाते । वे पुराने दिनो मे खोये रहते है । दूसरी वार वासन्ती जव पूछती है तो राम समझ जाते है कि वासन्ती को सीता-निर्वासन का समाचार मिल गया । वासन्ती आघात करना प्रारभ करती है कि वडे दारुण हो । कैसे तुमने मेरी निरीह सखी को फुसलाकर मोहा और कैसे तुमने·· इसके आगे कहने मे उसको सकोच होता है । वह वेहोश हो जाती है । राम सभालते है । वासन्ती पुनः पूछती है और वह पूरा वार्तालाप नाटक की करुणा को रेखाकित करता है.

वासन्ती—(समाश्वस्य) तत्किमिदकार्यमनुष्ठित देवेन ।

सीता—सहि वासन्ति, विरम विरम ।

राम—लोको न मृष्यतीति ।

वासन्ती—कस्य हेतो. ।

राम—स एव जानाति किमपि ।

राम उत्तर देते है कि मैने दारुण कर्म इसलिए किया कि लोग सीता का अयोध्या मे रानी के पद पर रहना वर्दाश्त नही कर सके । वासन्ती पूछती है क्यो ? तो राम कहते हैं कि इस क्यो का उत्तर लोग दें, उन्हे ही पता होगा । पुन वासन्ती पूछती है—तुमने जिस यश के लिए किया तुम्ही वताओ कि ऐसी अवस्था मे ऐसी अवला को त्याग करने से वढकर कुछ और अपयश हो सकता है । वासन्ती का यह कठोर उपालभ सीता को भी कठोर लगता है । राम को यह स्वाभाविक लगता है और इसी प्रकार का वे निर्मम उत्तर भी देते है कि इसमे और कुछ सोचने की क्या वात है । राक्षस 'ज्योत्स्नामयी मृदुमृणालकल्पा' सीता को लील गये । इसके वाद राम इस आत्मग्लानि मे और विह्वल हो उठते हैं । एक तो उलाहना देते हैं उन लोगो को जिन्हे सीता का अयोध्या मे रहना अभिमत नही रहा और उन लोगो ने सीता के इस तृण की तरह परित्याग दिये जाने पर दु ख नही व्यक्त किया । दूसरी ओर उन्ही लोगो से कातर प्रार्थना करते है कि मैं उस जगह पर हूं जहा तुम्हारा वश नही है । जहा मेरे चिरपरिचित भाव मन को उन्मथित करते हैं । तुम लोग नाराज न हो, रोये विना मुझसे रहा नही जाता है .

न किल भवतां देव्या स्थानं गृहेऽभिमतं तत—
स्तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता ।
चिरपरिचितास्ते भावास्तथा द्रवयन्ति मा-
मिदमशरणैरद्यास्माभि. प्रसीदत रुद्यते ॥

(उ० रा० च० 3-32)

इस उलाहने मे भी राम के विभक्तचित्त का स्पष्ट चित्र उभरकर सामने आ जाता है । राम को यही पर रामत्व मिलता है और वासन्ती जव इस ग्लानि से द्रवित हो

कहती है, देव धैर्य धारण करें तो राम बहुत ही मर्मभेदी उत्तर देते है—क्या धैर्य की बात कहती हो। देवी से शून्य हुए इस जगत के बारह वर्ष बीत गये कोई नाम तक लेने वाला नही रह गया और "न च रामो न जीवति।" और यह नही कि राम अभी जीते न हों। इस दूसरे निषेध से राजा के रूप मे राम के जीवन की व्यर्थता का अत्यन्त तीव्र अभिव्यक्ति करायी गयी है। वासन्ती उनका ध्यान दूसरी ओर आकृष्ट करती है एक ऐसे स्थल की ओर जहां राम ने ईषत् मान किया और सीता ने मुग्ध प्रणामाञ्जलि से उन्हें मना लिया (पुरुष के मान का वह चित्र पूरे सस्कृत वाङ्मय में अकेला है और अत्यन्त स्वाभाविक है।) अपने आप में ही यह श्लोक उत्कृष्ट रचना है किन्तु इस प्रसंग मे स्थापित है उसमें करुण के उज्जृम्भण मे सहायक होने के कारण और अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योकि ऐसे दुर्लभ क्षण का स्मरण जिसमे सीता की मुग्धता की विजय दिखायी गयी हो। (सीता के शब्दो में —मेरी सखी दु.ख के सदीपन उपायों को मन बहलाने का उपाय मानती है।) कितनी दारुण है :

अस्मिन्ननेव लतागृहे त्वसभवस्त्रन्मार्ग दत्तेक्षणः
सा हंसै॰ कृतकौतुकाचिरमभूदगोदावरीसैकते।
आयान्त्या परिदुर्मनायितमिव त्वां वीक्ष्यबद्धस्तया
कातर्यादरविन्दकुड्मलनिभो मुग्ध.प्रणामांजलिः॥

(उ॰ रा॰ च॰ 3-37)

राम दूसरी बार सीता को कोपनशील कहते हुए उन्मत्त हो उठते है—तुम यहां वहां हो और मेरे ऊपर कृपा नही करती हो। इस बार सभी विकल हो उठते है। राम सीता के स्पर्श से पुलकित होकर वासन्ती से आखे मूदे-मूदे यह कहते हैं—सखि यह लो, सीता सामने है। वासन्ती कहती है—क्योरी तुम अपने उन्मादी वाक्यो से और मुझ सखी सताप-संतप्ता को अधिक जलाते हो। सीता हाथ हटाना चाहती हैं और हाथ हटता नही। राम स्मरण करते है कि यह वही हाथ है जिसका उन्होंने विवाह मे ग्रहण किया था। सीता इस बीच मे टोकती-सी है, क्या तुम वही हो और किसी प्रकार राम जब आनद से परवश हो जाते है तब सीता अपना हाथ हटा लेती है। समस्त ऐन्द्रिय व्यापारो मे स्पर्श को सबसे अधिक आदिम माना गया है। किन्तु उस स्पर्श का भी भवभूति ने ऐसा उपयोग किया है कि वह वासना से विरहित होकर शुद्ध सात्विक प्रेम का अधिकरण बन गया है। हाथ छुडाते ही राम चारो ओर देखते है और कहते है कि कितनी अकरुण हो वैदेही ! तुम्हे इस तरह मुझे छोडना शोभा नही देता। सीता कहती हैं कि यह तो ठीक उल्टी बात आप कह रहे हैं।

इस छाया अंक की विशेषता इसमे है कि प्रेक्षक को तो लगता है है जैसे राम सीता से उन्माद मे जो कह रहे है उसका उत्तर सीता दे रही हैं पर सीता राम को देख रही हैं, राम को सुध नही है पर राम है जो सीता को न देखते हैं न सुनते है।

केवल सीता के स्पर्श से जीवन पाते है। इसी कारण यह अंक बार-बार मिलन को लाकर भी दुर्निवार विरह को छेडता रहता है वासन्ती कहती है—मेरी प्रिय सखी यहा कहां अपने को आप सभाले। इस पर राम कहते है तो उत्तर उनके तुरत शोक के चैतन्य को भी अभिव्यक्त करता है

"व्यक्त नास्त्येव। कथमन्यथा वासन्त्यपि न पश्येत। अपि खलु स्वप्न एष स्यात्। न चास्मि सुप्त.। कुतो रामस्य निद्रा। सर्वथापि स एवैष भगवाननेकवार-परिकल्पितो विप्रलम्भ पुन पुनरनुबध्नाति माम्।"

पुन इस आवेग शिखर से उतरने के लिए एक नाटकीय मोड आता है। वासती जटायु प्रसग याद दिलाती है और सीता एकदम से उस प्रसग से अभिभूत होकर सीताहरण की भूमिका मे पहुच जाती है, कहती हैं—आर्यपुत्र रक्षा करो, रक्षा करो। राम भी उसी तन्मयता मे क्रोध मे भरकर उठ जाते है। लकेश्वर नीच लकेश्वर कहा निकलकर जाओगे। वासन्ती कहती है कि तुम्हारे क्रोध का पात्र रहा नही। राम उत्तर देते है, इसीलिए तो आज का दुःख और गहरा है। तव तो शत्रु के नाशपर्यन्त ही विरह था और सह्य था। आज जब मै अपना ही वैरी हो गया हू तव विरह निरवधि हो गया है। इस विरह मे किसी का वश नही है। अव राम वासन्ती से विदा मागते है। मैं तुम्हे कब तक रुलाऊं, अव तो राम के देखने का अर्थ होता है मित्रो का क्षुभित होना। सीता को लगता है कि राम हाथ से निकले जा रहे है, सीता ही इस वार मूर्छित होती हैं। तमसा सभालती है। जव सीता को पता चलता है कि राम सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा बनाकर उसी को सहधर्मचारिणी के रूप मे उसी को प्रतिष्ठित किया है तब वे कहती है, बडी बड़भागिनी है जो समस्त प्राणिलोक के प्राण आर्यपुत्र के लिए आशा वधन वनी है। तमसा भी उलाहना देती है कि वेटी तुम तो अपनी ही प्रशसा कर रही हो। जैसे-तैसे सीता वहा से हटती है और हटते ही मूर्छित हो जाती है। अन्त मे आशीर्वाद के रूप मे तमसा के मुह से भवभूति का सिद्धातवाक्य पढ़वाया जाता है·

एको रस करुण एव निमित्तभेदा-
दि्भन्न पृथक्पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरगमयान्विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

[उ० रा० च० 3-47]

अन्तिम और चरम रस करुण है। जितने भी अन्य भाव, रस है वे सभी करुणा की अभिव्यक्ति हैं, क्योकि इतना प्रीति, विस्मय, वात्सल्य, क्रोध, उत्साह, घृणा, भय सभी एक चरम करुणा-बोध का परिणति मे उद्दीपक का काम करते हैं। सब अपने आप मे व्यर्थ होकर करुण को अर्थवान् बनाते हैं। ठीक इसके बाद एक मगलकामना होती है कि पृथ्वी, भगवती, वसुन्धरा, भागीरथी, वाल्मीकि और वशिष्ठ मंगल

अर्थात् ग्रीक ट्रेजेडी के ठीक विपरीत देवशक्तियां मनुष्य के मंगल मे सहायक बनती है। पर स्वयं मनुष्य ऐसा है जो अपने-आप अपनी निर्ममता का प्रतिकार नही करता। भारतीय दृष्टि से मानवीय जीवन की करुणा मनुष्य मे सन्निहित है।

चतुर्थ अक का विष्कम्भक दो प्रकार के प्रयोजनो की सिद्धि करता है। पहला, इतने गहरे विषादमय वातावरण के बाद कुछ हलकापन लाकर जनक के आक्रोश की तीव्रता के लिए अन्तराल उपस्थित करना। दूसरा यह कि वाल्मीकि आश्रम सबके लिए सम्मिलित बनने जा रहा है—जनक के लिए, वशिष्ठ, अरुन्धती के लिए तथा कौशल्या के लिए, इसकी सूचना देना। सौघातिक तथा दाण्डायन के वार्तालाप मे गभीरता और परिहास का एक घात-प्रतिघात भी है। परिहास मे दारुण-राजव्यवस्था के ऊपर एक गहरी चोट भी है। जनक को वाल्मीकि आश्रम मे उपस्थित करने की घटना भवभूति की उद्भावना है। वह समस्त अयोध्यावासियों को ही इस आश्रम मे उपस्थित करने जा रहे है जिसमे कि सीता के परित्याग के स्थल के साक्षात्कार से स्नेहियों की दु.ख-कातरता सबको डुबा दे—जनक के क्रोध को, कौशल्या के सकोच को कि कैसे हम जनक को मुह दिखलायें, राम के भय को कि गुरुजनो के सामने कैसे जायें और अयोध्यावासियों की ग्लानि को कि हमने ऐसा प्रवाद क्यो सच माना। जनक को नाटक मे लाने का सबसे बडा प्रयोजन यह दिखलाता है कि उनके जैसे विदेह और स्थित-प्रज्ञ पुरुष को भी सीता का निर्वासन कितना कष्ट पहुंचा सकता है, मानवीय करुणा किस प्रकार ज्ञान और धैर्य का पुल भी ढाह सकती है, जनक आते ही क्षोभ व्यक्त करते है कि इतने दिनो से निरन्तर कष्ट देता हुआ भी यह अपमान नये घाव जैसा बढ़ रहा है और मन का क्षोभ ह्रारे की तरह मर्म पर निरन्तर चल रहा है, मर्म आज भी नही कटता। आज भी यह दग्ध शरीर टिका हुआ है। आत्मघात वर्जित है और अनेक वर्ष बीत जाने पर भी प्रत्येक क्षण मे नयी-नयी भावना के कारण प्रत्यग्र लगने वाला दुःख का आवेग शान्त नही होता। 'अपत्ये यत्तादृग्दुरितमभवत्तेन महता, विषक्तस्तीव्रेण व्रणित हृदयेन व्यथयता। पटुर्धारावाही नव इव चिरेणापि हि न मे, निकृन्तन्मर्माणि क्रकच इव मन्युर्विरमति ॥' देवता की यज्ञभूमि मे उत्पन्न सीता का ऐसा भाग्यविधान कि मैं लज्जावश खुलकर रो भी नही सकता। राम ने भी सीता के बाल्यावस्था का ऐसा ही मोहक वीथी अंक मे उपवर्णित किया था। इन दोनो मे सीता के भोलेपन पर बल है। और ऐसे भोलेपन के साथ ऐसा अकरुण व्यवहार हो तो करुणा और प्रखर हो जाती है। जनक-कौशल्या का मिलन होता है। कौशल्या अरुन्धती के बहुत कहने पर सामने आती है और आते ही जनक सीधे कौशल्या से बात नही करते। कञ्चुकी से पूछते है—प्रजापालक राम की माता कुशलपूर्वक हैं। कञ्चुकी राम की ओर से सफाई देता है। सफाई देते ही जनक

का क्रोध उभर आता है। कौन होती है यह अग्नि मेरे सन्तान को शुद्ध करने वाली। अरुन्धती सभालती है कि अग्नि-शुद्ध सीता का कहना ही सीता का अपमान है। कौशल्या मूर्छित हो जाती हैं। जनक पसीजते है और स्मरण करते हैं कि कौशल्या मेरे अत्यन्त प्रियमित्र दशरथ की पत्नी हैं और मैं इन दोनो का विश्वास पात्र रहा हूं। कौशल्या होश मे आते ही जानकी का स्मरण करती हैं और कहती हैं कि और लोगो के लिए जानकी वधू रही लेकिन मेरे लिए तो लडकी थी। अरुन्धती आश्वासन देती हैं कि कल्याणमय परिणाम होगा। इतने मे बच्चों का कोलाहल सुनाई पडता है और जनक दूर लव को देखकर बुलवाते है। अरुन्धती, कौशल्या और जनक तीनो को लगता है कि इस बच्चे मे सीता और राम की छाया है पर कौशल्या और जनक को इसकी सूचना नही है कि सीता को पुत्र उत्पन्न हुए, इसलिए वे निराश हो जाते हैं। पुन लव अपने रामायण-ज्ञान की सूचना देता है और बतलाता है कि मैंने केवल वही तक कथा पढी है वहाँ लक्ष्मण सीता को वन मे अकेले छोड़कर लौट गये हैं। यह उल्लेख होना था कि कौशल्या का दु ख उमडता है और जनक का क्रोध। वे भभक पडते हैं कि ये दुष्ट नागरिक इतने क्रूर हैं और रामभद्र इतने उतावले हैं? वे धनुष चढ़ाने के लिए तथा शाप देने के लिए उद्यत होते है, कौशल्या काप उठती हैं। लव जनक का समर्थन करते है। अरुन्धती के अनुरोध पर जनक पुन. शान्त हो जाते हैं। इस अंतर्द्वन्द को इगितमात्र करके नाटककार पुनः कौतुक की सृष्टि करता है। बच्चे आते है और लव को घोडा दिखाने के लिए खीच ले जाते हैं। वृद्ध लोगो के चले जाने के बाद लव तथा बच्चे रगमच पर आते हैं। लव बडे-बूढे की तरह उन्हे समझाता है कि यह अश्वमेध का घोडा है। तुम लोग ऐसे मूर्ख हो कि अश्वमेधकाण्ड पढा है पर तुम्हे स्मरण नही है।

लव पताका और अश्व छीन लेने की चुनौती का सामना करने के लिए उद्यत हो जाता है। कहता है कि ढेलो मे मारते हुए घेरकर ले चलो। मृगो के बीच मे चरेगा। मै डर में आने वाला नही हू। बच्चे भागते सैनिको को देखकर भागते है, पर लव शस्त्र लेकर खडा हो जाता है।

पांचवां अक विना किसी व्यवधान के नैरन्तर्य मे प्रारम्भ होता है। अश्वरक्षक चन्द्रकेतु, लव के शौर्य की प्रशसा करते हुए रगमच पर आता है। सुमन्त को लव का शौर्य देखकर राम का स्मरण होता है। इतने मे लव चन्द्रकेतु के सामने आता है तथा दोनो का एक-दूसरे के प्रति आदरभावपूर्वक मुठभेड प्रारम्भ होती है। बीच-बीच मे सैनिक लव से लडते है, लव उन्हे पराभूत करता है। जब वह जृम्भकास्त्र का प्रयोग करता है तब सुमन्त को सदेह होता है कि कैसे इसे यह अस्त्र प्राप्त हुआ। दोनो कुमार एक-दूसरे से मिलकर मन मे सकोच करते है "वीराणां समयो हि दारुणरस: स्नेह-क्रमं बधते" कि वीरो का आचार स्नेहक्रम मे बाधक हो रहा

है। चन्द्रकेतु सुमन्त से आज्ञा मागते है कि मैं रथ से उतरकर लव से लडूं। सुमन्त अनुमति देते है और कहते है कि दशरथ का कुल आज प्रतिष्ठित हो गया। चन्द्रकेतु कहता है कि कैसी प्रतिष्ठा जब कि कुलज्येष्ठ राम स्वय अप्रतिष्ठित है, सीता के निर्वासन के परिताप से एकदम टूटे हुए है। लव को एक बार सकोच होता है कि हम क्यो लडें। हम नही लडते पर अश्वरक्षको ने बड़ी उद्दीपक बाते कही। इतने मे पुनः वाक्कलह प्रारम्भ हो जाता है। लव तथा चन्द्रकेतु लड़ पडते है। यहां तक कि लव—

वृद्धास्तेन विचारणीयचरितास्तिष्ठन्तु हुं वर्तते
सुन्दस्त्रीमथनेप्यकुण्ठयशसो लोके महान्तो हि ते।
यानि त्रीण्यकुतोमुखान्यपि पदान्यासन्खरायो धने
यद्वा कौशलमिन्द्रसूनुनिधने तत्राप्यभिज्ञो जनः॥

(उ० रा० च० 5—34)

ताड़कावध तथा वालिवध को लेकर राम की कड़ी आलोचना कर बैठता है। चन्द्रकेतु से यह सहन नही होता तथा युद्ध आरभ हो जाता है।

पष्ठ अक का प्रारभ विद्याधर मिथुनो के युद्धवर्णन से होता है जिसमे शब्द-क्रीड़ा विपुल मात्रा मे है। विद्याधर अत मे सूचना देता है कि यह युद्ध राम के विमान के बीच मे आने से रुकता है तथा राम को देखकर दोनो बच्चे प्रणत हो उठते हैं। चन्द्रकेतु लव का परिचय अपने मित्र के रूप मे देते है तथा राम लव की प्रशसा कायवान् क्षात्रधर्म के रूप मे करते हैं। लव विचलित हो उठता है। राम सोचते हैं कि यह अकारण स्नेह क्यों उमड़ रहा है। पुनः समाधान देते हैं कि स्नेह तो अकारण होता है। लव को जब पता चलता है कि ये ही राम है तो और भी विनीत होकर प्रणाम करता है तथा क्षमा मांगता है। राम पूछते हैं किस अपराध के लिए क्षमा। चन्द्रकेतु कहते है कि अश्वरक्षकों को चुनौती देने के लिए इनका शौर्य उमड पडा था। राम इस पर शाबाशी देते है और जब उन्हे यह सूचना मिली कि उसने जृम्भकास्त्र का प्रयोग किया। तब उसके सहार के लिए कहते है। उस अस्त्र की प्राप्ति के सम्बन्ध मे पूछने पर लव कहता है कि हमे जन्म से प्राप्त है। राम कहते हैं—कुछ भी हो सकता है। इतने मे लव के ज्येष्ठ भ्राता कुश धनुष चढाये हुए आ जाते है। राम इस साकार वीररस की प्रशसा करते है पर कुश युद्ध के नशे मे है, राम को नही देखता तथा लव से पूछता है कि क्या बात है? लव उत्तर देता है कि आप अब दर्प छोड़कर विनयपूर्वक व्यवहार करे। ये सामने रामायणकथा नायक ब्रह्मकोश के रक्षक रामचन्द्रजी हैं। अब यही से राम दूसरी ओर मुडते हैं। उन्हे स्मरण आता है कि ये दोनों बच्चे हमारे कुल के है। यही नही, इनमे जानकी की भी छाया दिखायी देती है। वैसे ही ओठ है, कान है। पूछे, शायद ये बच्चे वे ही हो। उनकी आंखे भर आती है। लव तथा कुश इस पर तटस्थ

टीका करते है। लव कहते है कि क्यों राम की आखो मे आंसू आ गये। कुश कहता है तुमने रामायण नही पढ़ी। रघुपति को सीतादेवी के विना क्या सुख रह गया है। राम स्वगत कहते हैं। यह तटस्थ वार्ता है, प्रश्न करने की आवश्यकता नही। बच्चे भी मेरे ऊपर अनुकम्पा दिखला रहे है। यह दशा हो गयी है। करुणरस की निष्पत्ति मे लव का चन्द्रकेतु से युद्ध, लव की आलोचना, कुश का अपने पिता के सामने ही उनके विरुद्ध दु ख की अनजाने चर्चा ये सभी बातें सहायक होती है, क्योकि ये सारी बातें यह दिखलाती है कि इतनी निर्मम और दारुण परिस्थिति है कि लडका भी पिता से इतना दूर हो गया है। एक ही कुल के बच्चे मे व्यर्थ का युद्ध होता है। राम को अपने बच्चो से ही ऐसी बातें सुनने को मिलती है जिस पर और अधिक रुलाई आती है। राम जव लव-कुश से रामायण से कुछ अश पढ़ने को कहते हैं तो वे ऐसे मर्म-भेदी प्रसग को पढ़ते हैं कि उनका दु.ख और अधिक हो जाता है।

तथैव रामः सीताया. प्राणेभ्योऽपि प्रियोऽभवत्।
हृदयं त्वेव आनाति प्रीतियोगं परस्परम्॥

(उ० रा० च० —332)

और तो और, जव लव अत्यन्त मधुर सकेतवाला मन्दाकिनी विहार का प्रसग उपस्थित करता है तो राम को एक वार लज्जापूर्ण हसी आती है कि वच्चे भी कितने विचित्र होते हैं विशेष रूप से वन मे पले हुए। वे नही समझते कि कव क्या कहना चाहिए। वे नही समझते कि प्रवास मे तो प्रिया ध्यान कुछ आश्वासन देता है किन्तु जब पत्नी की मृत्यु हो जाती है तो जगत् जीर्ण अरण्य हो जाता है। तथा हृदय भूसे की आग मे निरन्तर जलता रहता है। इतने मे सूचना मिलती है बच्चों के झगड़े की वात सुनकर शिथिल गात से धीरे-धीरे वाल्मीकि, वशिष्ठ और दशरथ की रानिया आ रही हैं। राम विचलित हो उठते है कि मैं क्यो सहस्र खण्डो मे विदीर्ण नही हो जाता कि इस महापाप की स्थिति मे अपने पितातुल्य अपने श्वसुर जनक से मिलूं। पुनः नेपथ्य से सूचना मिलती है कि रामचन्द्र को क्षीण देखकर माताए मूछित हो जाती हैं। राम कहते है कि मेरे ऊपर करुणा व्यर्थ है। मैं उसके प्रति अकरुण रहा हूं जो जनको और रघुओ दोनो के कुल की मंगल थी।

सातवा अक गर्भाक के रूप मे प्रस्तुत होता है। नाटक के भीतर नाटक रचा जाता है। राम तथा समस्त अयोध्यावासी दर्शक के रूप मे उपस्थित होते हैं। इस नाटक मे सीता परित्याग के अनन्तर की कहानी अभिनीत होती है। इसमे पता चलता है कि पृथ्वी भगवती भागीरथी और वसुन्धरा ही सीता के प्रसव के समय उपस्थित हैं। पृथ्वी और भागीरथी मे राम के इस कार्य को लेकर वातचीत भी होती है। इन सवके वीच मे राम का लक्ष्मण से संवाद चलता रहता है। एक साथ दो नाटक चलते रहते हैं। पूरी कथा की योजना ऐसे चलती है जैसे राम नाटक न

देख रहे हो, उन घटनाओं का साक्षात्कार कर रहे हो और जब नाटक में सीता को लेकर गगा और अरुन्धती चली जाती है तो राम को लगता है कि सीता लोकान्तर मे चली गयी और वे मूर्छित हो जाते है। लक्ष्मण उलाहना देते है कि भगवान वाल्मीकि तुम्हारा क्या यही काव्यार्थ था? इतने मे नाटक यथार्थ हो जाता है। गंगा और पृथ्वी के साथ सीता गंगा के जल से ऊपर आती है। गंगा और पृथ्वी नेपथ्य मे अरुन्धती के हाथो मे सीता को सौंपती है। अब भी राम होश मे नही आते। जब सीता स्पर्श करती है तो उन्हे होश आता है। राम गंगा और वसुन्धरा को प्रणाम करते है। अरुन्धती नागरिको को भर्त्सनापूर्वक आज्ञा देती है, अब भी तुम्हे सीता के बारे मे प्रमाण चाहिए? और लोग लज्जित होकर सीता को प्रणाम करते है। अरुन्धती राम को आज्ञा देती है कि तुम यज्ञ में सीता को धर्मचारिणी बनाओ। सीता मन मे कहती है कि क्या आर्यपुत्र को सीता का दु:ख परिमार्जन करने की कला याद है? राम आज्ञा शिरोधार्य करते है और सीता कहती है मैं फिर से जी उठी। यहा भी सबका मिलन होता है। बच्चो से भेंटकर सीता यही कहती है, देर तक मेरी गोद मे छिपे रहो। मैं दूसरे लोक से लौटी हुई तुम्हारी माता हूं। सबके बाद राम का अन्तिम वाक्य यही है:

"**सर्वमिदमनुभवन्नपि न प्रत्येमि। यद्वा प्रकृतिरियमभ्युदयानाम्।**"

इस नाटक के भरतवाक्य मे ठीक यही कहा गया है कि लोग शब्द ब्रह्मवेत्ता कवि की इस परिणत वाणी को बार-बार अभिनीत करें जिससे गुरुतर पाप से रक्षा हो, श्रेय की वृद्धि हो तथा समस्त लोक का मंगल हो।

इस प्रकार ऊपर से देखने पर तो राम और सीता के मिलन के पर्यवसान है पर वस्तुत: मिलन होता नही, क्योकि सीता और राम दोनों टूट चुके हैं। लोगो को प्रताड़ित करने के लिए ही मिलन होता है, वह दैवी शक्तियो के सहयोग से लोगो की कुबुद्धि का मार्जन तो हो जाता है किन्तु सीता के हृदय मे एक शल्य है, क्या आर्यपुत्र को मेरा दु:ख दूर करने की कला अभी भी याद है और राम के मन मे होता है कि सब कुछ घटित हो रहा है और मुझे विश्वास नहीं हो रहा है दोनो को अपने दु.ख की समाप्ति पर विश्वास नही है। यही और अधिक करुण है। दोनों का इतना बड़ा त्याग केवल लोक-मगल एवं लोकरंजन के लिए है किन्तु लोकमगल के लिए किया गया यह करुण बलिदान दोनो के हृदय मे स्थायी वेदना के रूप मे कीलित हो गया है।

इस नाटक की ऊपर जो सातों अंको की धारावाहिक व्याख्या की गयी है उसका प्रयोजन एकमात्र यही है कि करुणरस की निष्पत्ति मे किस प्रकार कथा-वस्तु और पात्र-योजना सहायक हुई है और किस प्रकार अगी करुणरस सहायक के रूप में हास्य, वीर, भयानक, रौद्र और अद्भुत का विनियोग सफलतापूर्वक किया गया है, यह बात समझ में आ जाय। भवभूति वाल्मीकि के क्रौंच-वधवाले

श्लोक से अभिभूत है। वे यही मानते है कि शोक ही श्लोक बन करके सबसे स्थायी श्लोक बनता है। उन्होने इसीलिए जो भी नयी उद्भावनाएं की उनके पीछे एक ही उद्देश्य था कि सीता निर्वासन की जिम्मेवादरी अकेले राम पर हो जिससे उसकी ग्लानि भी सबसे अधिक राम को हो। भवभूति के राम की अधीरता सामान्य पुरुष की अधीरता नही है। वह सामान्य रूप से वज्रमय पुरुष की अधीरता है, क्योकि राम को लगता है कि उनके दु ख के समभागी है वन, पर्वत, नदी और कुछ दूर तक वनदेवता। इन्ही के बीच आकर राम अधीर होते है। और वही जाकर खुलकर रोने से वे फिर से आत्मीयता पाते है, जिसके फलस्वरूप वे अपरिचित लव-कुश को देखकर भी अपनेपन के भाव से उच्छ्वसित हो उठते हैं। इस नाटक मे बीच-बीच मे गहरा दार्शनिक पुट है। कही-कही वैदिक भाषा की छटा है। वह ज्ञानके प्रदर्शन के लिए नही, वह करुण की लोकोत्तर भूमि की स्थापना के लिए है क्योकि कवि की मान्यता है कि चैतन्य का जहां सबसे अधिक उद्रेक होगा वही दु ख का सवेदना गहरी होगी। चैतन्य का यह अभिशाप है कि गहराई से दु ख की सवेदना दे.

"दु खसवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम्।"

इसी दृष्टि से देखने पर यह नाटक कृत्रिम नागर जीवन के दुराव-भरे कुत्सित रूप के विरुद्ध तीव्र आक्रोश भी व्यक्त करता है और यह भी व्यक्त करता है कि ऐसे दुराव-भरे लोक के लिए व्यक्ति की निष्ठा का कोई महत्त्व नही रहता है, क्योकि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के लिए कितनी गहराई मे प्रीति पालता है यह बात उनके मन मे घर नही कर सकती है। यह बात केवल सहज दु.खरहित जीवन विताने वाले वनवासियो मे ही घर कर सकती है। इसीलिए नाटक शुरू होता है उत्सवो के बाद की खाली चर्चा से और बीच-बीच मे बराबर वन के साक्षात्कार से मानो प्राण पाता हुआ आगे बढ़ता है।

एक और दृष्टि से देखा जाय तो लगता है कि मनुष्य को मनुष्यत्व की शिक्षा अगर देवताओ और ऋषियो से मिलती है तो क्या बात हुई। यह तो उसकी पराजय है। देवता मन मे जगे और तब मनुष्य मे करुणा आये, इससे क्या बात बनी। मनुष्य से मनुष्य व्यथित हो और इसके लिए राम के द्वारा किया गया यह दारुण कर्म पर्याप्त न हो इससे बढ़ करके करुणा की बात क्या हो सकती है। पर भारतीय दृष्टि मे मानवीय ममता और स्नेह का यही मूल्य है और इसीलिए भवभूति ने यह नाटक रचा है। इस नाटक की आलोचना करने वाले यह भूल जाते है कि असाधारण परिस्थितियो और साधारण मनोभावो का अत्यन्त सहज चित्रण इस नाटक मे है। इसीलिए जहाँ शब्द के रूप मे कठिन है वहा इसे समझना आसान है और जहां इसकी भाषा सहज एवं प्रभावपूर्ण है वहा इसकी गभीरता का थाह लगाना कठिन है। जितनी गहरी व्यंजनाए और जितने दो अर्थो वाले सकेत इसमे है उतने

संकेत सस्कृत के किसी नाटक मे नही है। जितना नाटकीय जोड-तोड इसमे है उतना अन्यत्र नही है। इससे सिद्ध होता है कि भवभूति को भारतीय रगमच का एक सजग अनुभव था। वे नये प्रयोग करने मे इसीलिए समर्थ थे। छाया अंक और गर्भांक का जिस प्रकार उन्होने विनियोजन किया है और जिस प्रकार सवादो को दो-दो भूमियो पर साथ रखते हुए भी एक-दूसरे मे गूथा है वह अपूर्व कल्पना और प्रयोग कुशलता के बिना सभव नही हो सकता। संस्कृत नाटक मे रस केन्द्र होता है। नेता और वस्तु उसके अधीन होता है। इसीलिए चरित्रचित्रण या कथावस्तु के चमत्कार की दृष्टि से विचार अलग से करने की आवश्यकता नही है, वह ऊपर किया जा चुका है।

भवभूति का वैशिष्ट्य इसमे है कि उन्होने राम की कथा राम की ओर से प्रस्तुत की है, उन्होंने नाटक के लिए अपूर्व चिंतित रस को केन्द्र में प्रतिष्ठित किया और उन्होने वाल्मीकि के काव्य का प्रयोजन नृशसता के विरुद्ध करुण आक्रोश मे आकर उसे उत्तररामचरितम् मे घटित कराया। यह केवल राम के उत्तर जीवन का चरित नही, यह लोकोत्तर राम का चरित है जिसमे राम राजा से ऊपर एक मानवीय मूल्यों के विचारक के रूप मे उपस्थित होते हैं। राम स्वय उन मूल्यो के लिए दुःख झेलकर उन्हें अर्थवत्ता देते हैं। उन मूल्यो से सबसे बडा मूल्य है विश्वास की रक्षा। जितने देव या ऋषि पात्र है वे सभी विश्वास की रक्षा करते है। राम रक्षा नही कर पाते तो उसके लिए अनुतापमय दीर्घ जीवन बिताते है तथा उस अनुताप मे पिघलकर वे शुद्धरूप में अभीष्ट मूल्य के साकार प्रतिमान बन जाते है। जहां कही विश्वासमय जीवन का, निश्छल जीवन का चित्र प्रस्तुत करना होता है वहा भवभूति से बड़ा चित्रकार सस्कृत मे नही मिलता। जहां कही दीर्घ परिचय के कारण उभरी हुई आत्मीयता का चित्र खीचना होता है वहा भवभूति से बढ़कर जीवनदर्शन का व्याख्याता नही मिलता।

अद्वैत सुखदु.खयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्,
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रस.।
कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थित
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते ॥

(उ० प० रा० च० 1-39)

अकिंचिदपि कुर्वाण. सौख्यैदु खान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जन.॥

(उ० रा० च० 6-5)

ये दो श्लोक ही इसके पर्याप्त निदर्शन होगे कि भवभूति जिस आत्मीयता को श्रेष्ठ मानते हैं वह ऐसी है कि जो सुरक्षित पूजी की तरह है, स्नेह के सार की तरह है जिसमें उसका सारा रस तलछट मे आपस के सब दुराव, उपचार हट जाने

पर स्थिर हो गया है। इसी के साथ जब अपघात होता है तो मानवीय करुणा का उदय होता है और उस करुण के प्रवाह मे फिर ज्ञान, वैराग्य, राग, द्वेष, क्रोध सब बह जाते हैं और मनुष्य के चित्त का प्रक्षालन हो जाता है। इसीलिए इस कथा को कवि ने स्वय कहा है—

"मांगल्या च मनोहरा च जगतो मातेव गगेव च।"

उत्तर प्रदेश संस्कृत अकादमी मे दिया गया वक्तव्य।

2

सहृदय, हृदय-संवाद और रसनिष्पत्ति

इद कविभ्यः पूर्वेभ्यो नमो वाकं प्रशास्महे।
विन्देम देवतां वाचममृतामात्मन' कलाम् ॥

मैं अपने पूर्ववत्तियों की अमूर्त कला का वदना करता हूं और उनके स्मरण के के पुण्य प्रताप से कुछ ऐसे विषय के संबध मे निवेदन करना चाहता हूं, जिसके बारे में व्यवस्थित रूप से सूत्र विशेष कहा नही गया है, उल्टे कुछ भ्रम जरूर पैदा कर दिये गये है, जिससे प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की व्यापकता को प्रश्नास्पद बनाने का प्रयास हो रहा है और उनसे भिन्न परंपरा की तलाश की जा रही है। मेरा प्रभावित चर्चा-विषय है सहृदय की अवधारणा इसी से स्वतः दो और विषय जुड़ जाते हैं, हृदय संवाद और रस-निष्पत्ति मे सहृदय और हृदय-संवाद का योगदान।

सहृदय को समझने के लिए सबसे पहले भारतीय भावधारा मे वाक् क्या लीला करती है, यह जानना चाहिए। ऋग्वेद के वृहस्पति सूक्त (10/71) मे अन्तःस्फूर्ति वाक् की परिशुद्धता धीर अर्थात् ध्यानमुक्त मन से इसकी रचना सख्य भाव की पहचान तथा कल्याणलक्ष्मी के उदय मे ही इसकी सार्थकता की पहचान लक्षित हैं—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखाय. सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।

इसी सूत्र के एक दूसरे मंत्र मे इस पर बल दिया गया है कि यज्ञ मे प्रयुज्यमान होने के कारण वाक् की एक राह बनी, जिससे फिर अनेक राहें बनी। यज्ञ मे वही मंत्र बार-बार उच्चरित होकर अपूर्व की सिद्धि करता है, उसी प्रकार ध्यान-योग से सिरजी वाणी भी बन बन उच्चरित होकर नया नया अर्थ देती है। एक अन्य मंत्र मे इस वाक् की उस रमणीयता का वर्णन मनोरम उपमा के द्वारा किया गया है। उसे देखते हुए भी हम देख नही पाते। सुनते हुए भी सुन नही पाते। वह

सुवासिनी वाक् सर्जन के लिए उद्यत स्त्रीतत्त्व की तरह जिसे वरण करती है, उसी को उन्मीलित होती है।

उतत्व पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासा ॥

इन सभी मंत्रों की गहराई में जायें तो वाक् तत्त्व के बारे में तीन बातें सामने आती हैं—

1. वाक् का अर्थ ही है साझेदारी और साझेदारी की पहचान। परिशुद्ध और ध्यानकाल्पत वाणी के द्वारा ही साथ साथ रहकर कल्याण-यात्रा का भाव जगता है। पर यह भाव उन्हीं के मन में जगता है जो सखा है, जो सख्य के लिए उत्सुक हैं, जो सचन के लिए (सच् धातु से ही सखि शब्द व्युत्पन्न है। सचिव शब्द व्युत्पन्न है, सचत, सचित शब्द भी इसी से व्युत्पन्न हैं) एक दूसरे की आकांक्षा के लिए पर्युत्सुक हैं। यही तो सहृदय होने की पहली शर्त है, सबके साथ साझेदारी की उमंग जिसके भीतर न हो, वह क्या सखा होगा, क्या होगा सहृदय ?

2 अंत:स्फूर्त वाक् से यज्ञ-प्रयोग में अपूर्व की सिद्धि होती है, इसका अर्थ यह है कि आहुति के भाव से निजत्व के परत्व के लिए अर्पण के भाव से मंत्र उच्चरित होना है। उसके उच्चारण की पुनरावृत्ति में नवीनता आती है, क्योंकि अर्पण भाव नया होता है। पूरा कर्मकांड पूर्वज्ञात रहता है पूर्वचिन्तित रहता है, पर प्रक्रिया की अपूर्वता के कारण अपूर्व तृप्ति मिलती है। यज्ञसंस्था समुदाय संस्था रही है, यज्ञ व्यक्ति रूप में यजमान कराता था और होता अध्वर्यु उद्गाता कोटि के ऋत्विक् व्यक्ति रूप में अपनी अपनी भूमिका में यज्ञानुष्ठान करते थे, पर जब अंतिम आहुति दी जाती थी, तब कहा जाता था—'ये वयं यजामहे' जो ये सब हम (जो यहां हैं जो यहां नहीं हैं, जिनके लिए है, जो यज्ञ में सम्मिलित हैं, जो भी यज्ञ का द्रव्य है, जो भी यज्ञ के यजनीय देवता हैं, वे सब मिलकर हम अपने लिए अपनी समग्रता के लिए अपनी समष्टि चेतना के लिए, यज्ञ कर रहे हैं, इसका आशय यही था कि यज्ञ की प्रक्रिया में यह सर्वमयता के रूप में अपनी व्यक्ति के रूपान्तर का भाव ही अपूर्व की सिद्धि करना है। वाग्यज्ञ भी ऐसा ही होता है। कोई एक रचता है कोई एक सुनाता है। सब अलग अलग सुनते हैं। किसी एक की कथा है। जानी हुई कथा है, जाना हुआ पात्र है, सभी जाना हुआ हो, बार-बार उसका पाठ करने पर ज्ञात होता रहता है, तो भी रचने और ग्रहण करने, इन दोनों अनुभवों में यह सन्निहित रहता है कि रचना पर के लिए है और ग्रहण करना भी अपने भीतर की समग्रता के लिए है, व्यक्ति के लिए नहीं। कालिदास ने ग्रहण के इस भाव को रघुवंश के पन्द्रहवें सर्ग में बड़ी अछूती उपमा से समझाया है। अयोध्या की सभा में लव कुश ने सीता के परित्याग तक की रामकथा सुनायी, वहीं तक उन्हें कथा याद करायी गयी थी और एकाग्र भाव से एकतान चित्त से

सुनती रहीं, सुनती रही, कान कही अन्यत्र नही गये, सारी इन्द्रियां कानों में ही समा गयी, पता नही कब आसू तिप् तिप् झरने लगे, जैसे प्रात की आभा मे शिशिर मे जंगल की जमीन हवा थम्ह जाने पर ओस से झलमलाने लगती है। काव्य का ग्रहण पूरी समष्टि चेतना को झलमला देने वाला अनुभव है, विजडित और सवेदन शून्य चित्तभूमि को सिहरा देने वाला, आविद्ध कर देने वाला, भिगो देने वाला, प्रदेश को उद्भासित कर देने वाला अनुभव है। इस प्रकार वाक् की समष्टिमयता संसार के अन्य ऐन्द्रिय अनुभवो से कुछ अलग अनुभव कराती है, जो ऐन्द्रिय संसार या दूसरे शब्दो मे लोक मे अनुभव से अनासक्त नही है, असम्पृक्त नही है, उल्टे गहराई से संसक्त है, व्यापक रूप से ससक्त है, बस इतना ही है कि अनुभव के प्रारभ मे व्यक्ति है पर अनुभव की परिपाकावस्था मे अनुभव करने वाला अनुभव और अनुभव करने वाला सब एक हो जाते है, उस समय व्यक्ति के लिए अवकाश नही रहता।

3. वैदिक वाग् अवधारणा मे तीसरा उल्लेखनीय बिन्दु यह है कि सर्जनात्मक वाणी अपने ग्राहक अपने ग्राहक की खोज मे सुवस्त्रो मे आधी ढकी आधी उघरी आधी श्रवणो मे आती, आधी नही आ पाती, आधी परिचित और आधी अपरिचित रूप मे सचरणशील होती है, सम्प्रेषित होती है, मर्म सब पर प्रकट नही होता, हृदय सबसे नही मिलता, बस उससे मिलता है, जो प्रतीक्षा करता रहता है, जो पक्तियो को गुनगुनाता रहता है, अर्थ रूप मे रचना अवतरे, अब अवतरे। वह ग्राहक वही होगा, जिसके चित्त मे छनी हुई वाणी जैसी परिष्कृति है, जो अन्य आस्वाद्य विषयो के अनुभवो को छान कर शब्दार्थ—अनुभव को अलग कर चुका है, जो शब्दो की प्राणवत्ता पहचान चुका है, क्योकि जो जीवन की विविध छटाओ में से उन शब्दो के गुजरने वाले शब्दो का स्पन्दन सुन कर ग्रहण कर चुका है, वही सहृदय है।

इस अवधारणा से जुडी हुई एक दूसरी वैदिक अवधारणा है, सामजस्य की। सामजस्य सूक्त मे कहा गया है (अथर्ववेद 6/64) कि अच्छी तरह मिल जाओ, अच्छी तरह एक दूसरे मे पृक्त हो, एक दूसरे से मिलो एक दूसरे के मन को समझने वालो के मन मिले जैसे पूर्व मे देवता अपना अपना हिसाब अच्छी तरह पहचानते हुए साथ रहते थे, वैसे रहो। देवता चाहते हैं कि इन मनुष्यो का मन्त्र समान हो, सबमे एक तरह व्याप्त हो, तुम्हारा साथ साथ मिलना-जुलना-बैठना समान हो, सर्वमय हो, इनका व्रत समान हो, इनका चित्त समान हो। समानता मे आबद्ध मनुष्य देवता से कहते हैं कि समान दृष्टि से हम तुम्हे आहुति देते है, हमारे भीतर समान चेतना का अधिसवेश करो, हमारा सोचना समान हो, हमारे हृदय समान हो, मन समान हो जिससे हम तुम्हारे साथ भली तरह समजस हों।

सं जानीध्व सं पृच्यध्व सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सं जानना उपासते ।।
समानो मंत्र समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् ।
समानेन वो हविषा जुहोसि समानं चेतो अभिसविशध्वम् ।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि व ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ।।

यह समान क्या है, इस पर विचार करें। समान शब्द अस् (= होना) धातु का वर्तमान कालिक आत्मनेपदी कृदन्तरूप हैं, इसका अर्थ है अपने लिए अस्तित्ववान्। इसी अस् से सम शब्द भी बना है, इसी से सह भी बना है, साकं भी कदाचित् बना है, सत् और असत् तो हैं ही। यह भी उल्लेखनीय है कि संस्कृत मे समं समानं, सह, साक इन सबका अर्थ सहित है। अपने लिए अस्तित्ववान् और सहित ये दोनो विरोधी भाव जरूर ऊपर से लगते हैं, पर जब अस्तित्व की बात अपनी अन्तरात्मा की ओर से की जाती है, तब अपने आप उस अन्तरात्मा मे प्रतिबिम्बित विश्वात्मा का साहचर्य उद्बोधित हो जाता है, शुद्ध अस्तित्व तो अभी आप समग्र अस्तित्व होगा, इसलिए कोई विरोध नही है। अभी अभी उद्धृत दूसरे मंत्र मे समानं के जोड मे सह आया है, इसलिए समानता का अर्थ बराबरी नही है, अलग अलग हिस्से का बँटवारा नही है, उसका अर्थ सबका मिलकर सहभागी होना है, दूसरे के द्वारा उपभोग को और उसकी परितृप्ति को अपना उपभोग और अपनी परितृप्ति मानना है। इस समानता का आधार है मन का मन से मिलना, चित्त का चित्त से मिलना, हृदय का स्वेच्छा से विवश हो जाना। अथर्ववेद के एक दूसरे सूक्त (6/94) मे सरस्वती ने यह घोषणा की है कि मैं मन से मनो को गहती हूं, जिससे मेरे चाहको मेरे चित्त के अनुसार अपने अलग अलग चित्तो के साथ चल सको, मै तुम लोगो के हृदय खीच कर वशीभूत करती हूं, जिससे मेरे चले हुए रास्तो पर तुम चल सको—

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्त मनु चित्तेभिरेत ।
मम वशेष हृदयानि व कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ।।

यह सरस्वती जातीय सवेदना है, जातीय स्मृति है, जातीय प्रज्ञा है, जातीय चिति है, जातीय जीवन-निष्ठा है, जातीय श्रद्धा है। इस श्रद्धा का हो जाना ही सहृदयता है। श्रद् और हृद् एक ही शब्द के दो रूप है और इसका स्थान मन चित्त दोनो से ऊपर है, मन मे जो राग द्वेष रहते हैं, पहले उनका साधारणीकरण होता है, चित्त में जो समझदारी रहती है फिर उसका साधारणीकरण होता है, इसके अनतर अपने आप एक ऐसे विगलन की तैयारी हो जाती है कि कुछ अभ्यास नही करना पड़ता, द्रुति मे अपने आप प्रवाह होता है। हृदय का व्यापार तो यह द्रुति ही मुख्य रूप से है, पर द्रुति तभी होती है जब अभितप्त अवस्था पहले आ जाय। मानस व्यापार और

चैतस व्यापार क्रमशः स्मृति की सघनता और ध्यान की तीव्र दाहकता और प्रकाशकता से हृदय के द्रवण की भूमिका बनती है। जो सहृदय होता है, उसके भीतर सघन स्मृति होती है और उसमे ध्यान-योग होता है, धी होती है, रचयित्री और भावयित्री प्रतिभा का तीक्ष्ण प्रकाश होता है, उस प्रकाश मे सृष्टि घुल कर नवोन्मीलित हो जाती है। कहने मे बात बड़ी असंभव और अवास्तविक लगती है, कहाँ ध्यान योग होता है।

1. प्रत्येक रचनाकार मे, कहाँ स्मृति की सघनता होती है और कहाँ प्रत्येक रचना हृदय में झकृत होती है। शब्दार्थ ग्रहण करके कुछ अच्छा लगता है, बस इससे अधिक क्या चाहिए, परन्तु कुछ गहराई मे सोचें तो रचना मात्र मे ये तीनों सोपान (भले ही इनकी आनुपूर्वी रचना के आस्वाद के समय पकड़ मे न आये) होते ही होते है।

सहृदयता एक सामाजिक तैयारी है, लोक के बीच रहते हुए, लोक का सुख-दु.ख झेलते हुए, पर समस्त उस झेलने मे लोकमात्र को समाविष्ट करते हुए एक ऐसे लोक के नागरिक होने के लिए, जिनमे किसी भी लौकिक विषय की विस्मृति नही होती, किसी से संसर्ग नही छूटता, उल्टे संसर्ग कुछ अधिक गहरा हो जाता है, जो अपना मित्र नही, बन्धु नहीं, सम्बन्धी नहीं, अपना समकालीन नही, अपना कुटुम्बी नही, जो इतिहास क्रम मे अपना कोई पूर्वपुरुष नही, उसके सुख-दुख के साथ ससर्ग ऐसा गहरा हो जाता है कि अपना सुख-दु.ख बिसर जाता है, छोटा पड जाता है, कालिदास का जब सीता निर्वासन प्रसग पढ़ते हैं और वह श्लोक पढ़ते है जिसमे कहा गया है कि—

नृत्तं मयूराः कुसुमानि वृक्षा दर्भानुपात्तान् विजहु हरिण्य.
तस्या. प्रपन्ने समदु:खभावमत्यन्तमासीद् रुदिति वनेपि॥

मोरो ने नाचना छोड़ दिया, वृक्षों ने कुसुमो को झहरा दिया, हरिणी ने मुंह में ली घास गिरा दी। सीता के दु ख मे दु.खी होकर सारा जंगल फूट-फूट कर रो पड़ा।

तो क्षण भर के लिए सही लगता है कि हाय यह दु.ख इतना दु.ख और सीता को इतना दु'ख यह क्या किया कवि तुमने, मानों कवि ने दुःख रचा हो। यह भाव कैसे आता है, क्या कविता के शौक से आता है, क्या जिन्दगी मे तमाशबीन बनने से आता है, क्या नैतिकता के प्रति सजगता से आता है, अथवा भीतर से भीगने से आता है? स्पष्ट है कि कविता जिनके लिए विलास की वस्तु है, उन्हे समदुःख भाव की विराट् अनुभूति नही होगी, न उन्हे होगी जो पीड़ा के दृश्य को चाव से देखते हैं, न उन्हे होगी जो नैतिकता की डौड़ी पीटने वाले है, क्योकि वह निर्णय लेकर किसी को दोषी ठहरा देगा, उसका कार्य सम्पन्न हो जायेगा। होगी उसे जिसका हृदय सीता की करुण स्थिति से आविद्ध कवि के हृदय के साथ है,

जिसका हृदय लौकिक प्रत्यक्ष में अनुपस्थित पर काव्य-पारायण से उद्भूत कल्पना में जीते-जागते रूप मे उपस्थित सीता के हृदय के साथ है।

सहृदयता कालिदास के शब्दो मे पर्युत्सुकीभवन है, रमणीय पदार्थ को आंखें सेकना नही है, न मधुर संगीत की धुन पर भोजन के कौर उठाना है, वह एक बेचैनी है जो चैन मे रहने वाले व्यक्ति को भी उसकी मौजमस्ती से, उसकी अपनी पीडा से विस्थापित कर देती है और एक क्षण के लिए दूर से आते हुए एक खिंचाव के लिए उदग्र कर देती है, कहीं कोई बिछुड़ा हुआ आत्मीय बुला रहा है, हम जो हैं, वह रह नही पायेंगे, वह चैतस आत्मीयता दुर्निवार है, बुद्धि कुछ सोच नही पायेगी, एक सौहार्द एक उत्तम कोटि की हृदय सम्पन्नता जाने कब की सोई हुई जगेगी, उसकी ओर खिंचाव बडा ही प्रबल है, पर भय भी कम नही, जाने क्या घटित हो जाय। यही परि उपसर्ग का अर्थ है, उत्सुकता मे तो बालसुलभ कुतूहल रहता है, पर उत्सुकता ऐसी हो कि सभी अन्य भावो को परिप्लुत कर दे, तब उस उपहास मे क्षुद्र अस्तित्व के भहराने की सम्भावना रहती ही रहती है।

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्।
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तु:।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं,
भाव स्थिराणि जननान्तर सौहृदानि॥

जो जननांतर न भी स्वीकार करें, वे भी इतना तो स्वीकार करेंगे ही कि प्रत्येक समर्थ रचना के सार्थक अनुभव मे कुछ नया संस्कार हो जाता है, नया जन्म हो जाता है। पुनर्जन्म के पूर्व एक क्षण के लिए ही सही मृत्यु होती है कुछ क्षुद्रताओ, कुछ संकीर्णताओं की, कुछ छोटे चिपकाओ की और पुनर्जन्म होता है तो आदमी कुछ और बडा हो जाता है, इस मृत्यु के पूर्व मृत्यु की यातना भी होती है, आई चीज छोडी नही जाती, जितना मृत्यु से भय लगता है, उससे अधिक भय लगता है मृत्यु के कारण अपनी कही जाने वाली चीजो के खोने से, कही यह न छूट जाय, कही वह न छूट जाय, हाय अब यह नही मिलेगा, वह नही मिलेगा। जो सहृदय नहीं होगा, उसे न यह यातना होगी, न कोई खिंचाव होगा, न उसके भीतर कोई ऐसा अतर्द्वंद्व होगा कि मेरा सच्चा स्व क्या है, यह घरौंदा मेरा स्व है या यह विशाल जगत् मेरा स्व है, क्या घरौंदे से अलग रहा जा सकेगा, क्या यह विशाल जगत् अलग होकर भी अपना हो सकेगा। सहृदयता बडी कडी परीक्षा है। भवभूति के शब्दो मे सहृदयता वह चैतन्य है जो दु ख-सवेदन के लिए दिया जाता है मन के राम को।

दु ख सवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्।

इसी के साथ यो राम रम्य, रमणीय, रमने और रति या अर्थ भी समझ लेना प्रासंगिक होगा, रमना और रमाना ये दोनो व्यापार उत्सर्ग बोधक हैं,

भोग-बोधक नहीं, रमने में सन्निहित है अपने को खोना, अपने को अपने से विस्थापित करना, रमने का अर्थ पाजा या हथियाना नही, न किसी के ऊपर हावी होना है, जो आक्रामक अर्थ लवमेंकिंग मे है, वह रमण मे नही है, लव धातु की समकक्ष धातु हमारी भाषा में लुभ् है, जिससे लोभ बना है, रम् में लोभ नहीं है, रम् में तादात्म्य है। श्रीमद्भागवत मे रासपं चाध्यायी मे एक श्लोकार्थ आता है।

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भक. स्वप्रतिबिम्वविभ्रम. ॥

रमा अर्थात् रमने की वृत्ति के अधिष्ठाता श्रीकृष्णा व्रज सुन्दरियों के साथ ऐसे रमे जैसे बच्चा दर्पण मे या जल मे पडे अपने प्रतिबिम्ब के साथ रमता है। भागवत मे ही इसी प्रसंग मे एक दूसरी उक्ति है—आत्मारामोप्यरीरमत्, जो आत्माराम है, जिसमें आत्मज्ञान मे विश्राम पा लिया है, वह भी रमा और रमने की तरह रमा, इसका तात्पर्य यही है कि रमना दूसरे के लिए होता है, और इस दूसरे की प्रतीति अद्वैत मे अधिष्ठित को भी करने की विवशता होती है। बिना पराया हुए आत्म की पहचान ही कही होगी ! अथर्ववेद के एक दूसरे सूक्त मे (7/13) मे सभा, साथ भासित होनेवाली इकाई का यही प्रकार है कि यदि तुम्हारा मन अव फिर दूर जाकर लौट रहा हो, यदि यहा फिर बंधना चाहता हो तो आओ तुम्हे बुला रही हूँ, तुम्हारा मन मुझमे रमे, रमता रहे—

यदि वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद्व आवर्त्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥

यह सभा क्या है, क्या कुछ चुने हुए लोगो की मडली है, क्या प्रबुद्ध और सभ्य लोगों का गुट है, अथवा हर कार्य में शिकायत करने वाले भागीदारी करने वाले लोगों के मिलने की जगह है। भारतीय विश्वदृष्टि मे चुने हुए लोगो की कही स्थिति नही है, वहां कुछ ही अभागे हैं, जिसे लोग चुने नही होते वहाँ हर प्राणी, हर अप्राणी किसी न किसी विशेप प्रयोजन के लिए चुना हुआ है, किसी न किसी अद्वितीय व्यापार का प्रवर्त्तक है हर एक अद्वितीय है, पर सवकी विशिष्टता एक दूसरे की पूरक है, सृष्टिमात्र मे कालिदास से शब्द उधार ले भूषणभूष्यभाव है या 'परस्परेण स्पृहणीयशोभत्व' है। अत सभा या समिति की अवधारणा प्रबुद्धता की कोटि से बिल्कुल अलग है, यह समान आभा है, सभा है, समान इति है अर्थात् गति है समजस आभा है समिति है, समंजस गति है, दूसरे शब्दों मे एक दूसरे की कान्ति को बढाते हुए चमकना ही सभा का धर्म है, एक दूसरे की गति से समताल रहना ही समिति है। सहृदयता की अवधारणा भारतीय विश्वदृष्टि की एक नाभिक अवधारणा हैं, जिसके भीतर से अभिव्यक्त होने की इच्छा कमल बनकर फूटती है और उस इच्छा से स्रष्टा निकल पडते है। सहृदयता सृष्टि का बीज है और सहृदयता सृष्टि को ग्रहण करने वाला आधान भी हैं।

ध्वन्यालोककार ने प्रथम आलोक की बारहवी कारिका की वृत्ति मे सहृदय के

लिए सचेतस् पर्याय की व्याख्या करते हुए कहा है 'जिनकी आत्मा परितुष्ट नही होती है सतही अर्थ से', वे ही सचेता. या सहृदय हैं, यह अपरितोप, यह मर्मभूत अर्थ के लिए बेचैनी ही सहृदयता है। वक्रोक्ति जीवित कार ने सहृदय का अर्थ किया है काव्यार्थ विद् (काव्य का अर्थ समझने वाला)। पर काव्यार्थ समझने का भाव क्या है, इसे समझाते हुए उन्होने काव्यार्थ को स्वपरिस्पन्दसुन्दर कहा है। यह स्पन्द क्या है ? हम कश्मीर शैव दर्शन की परिभाषाओ मे न भी जायें तो इतना तो स्पष्ट प्रतीत होगा ही कि काव्यार्थ मे अपनी कोई गतिमत्ता होती है, अपना कोई परिस्फुरण होता है अपनी कोई झकृति होती है। कोई अनुगूजें होती हैं, एक साथ कई तार छिड जाते हे, तब सबके सवाद से ही अर्थ परिस्फुरित होता है। कुन्तक की इन दोनो बातो को जोडकर देखे तो यही निष्कर्ष निकलेगा कि काव्यार्थ वेत्ता सहृदय शब्दो मे समर्पित बाह्य संसार की वे सारी धड़कने सुनता है, उनकी अलग अलग गति पहचानता है, जिनके साथ मनुष्य की प्राणनाडी का योग अपने आप हो जाता है। काव्य का अर्थ जानना एक अलग तेज है, एक अलग साधना है, सबसे नही सधता योगियो से भी नही सधता प्रेमियो से भी नही सधता, यह उनसे सधता है जो प्रेम और योग दोनो मे चित्त वृत्तियो का जो अलग-अलग सस्कार होता है, उन सस्कारो को जोडकर एक अलग धारा बहाने का प्रयत्न करता है। कठिन साधना है।

योगी की अतिशय असलग्नता और प्रेमी की अतिशय संलग्नता दोनो को एक साथ साधे तभी तो सहृदय होगा। यह सहृदय कामशास्त्र का नागर नही है, न कलाशास्त्र का विचक्षण जो जिसकी दृष्टि केवल वर्तनी पर जाती है, जो रेखा की सूक्ष्मता को नही पहचान पाता या उसे पहचानने मे कोई विशेष रस नही पाता, वह कलाशास्त्र का आचार्य तो है, पर आचार्य के साथ-साथ वह विदग्ध भी है। आचार्यता और विदग्धता भी दो भूमिया हैं, आचार्य मे एक तटस्थता अपेक्षित होती है और विदग्धता तो अपने को अनुभव के ताप मे झोकने से आती है, वहाँ कहाँ तटस्थता। ऐसा सहृदय सब जगह मिलेगा, पर कही उसका विशेप वर्ग नही मिलेगा। सहृदयता की पाठशाला कही नही मिलेगी, वह कहीं हाट-बाट मे नही मिलेगी, वह अपने को सामान्यीभूत करने वाले काव्यावगाही व्यक्ति मे धीरे-धीरे उभरती है, जैसे सामान्य से पत्थर के टुकडे का रूप धारा मे बदलता चला जाता है और धीरे-धीरे वह पत्थर एकदम एक जर्रा बनकर धारा का अविभाज्य अणु बन जाता है। सहृदय का अर्थ हो जाता है सहृदय परम्परा जिसको मैंने अपने वक्तव्य के आरभ मे ही प्रणाम निवेदित किया है।

अब बात करे हृदय-सवाद की, क्योकि काव्यार्थ सहृदय हृदय संवादी होता है। सवाद का अर्थ है एक दूसरे की ओर अभिमुत होकर बातचीत पर समजस भाव से साकाक्ष भाव से बातचीत, कुछ सुनने का मन है, कुछ सुनाने का मन है

सुन-सुनाकर एक होने का मत है ऐसे मन से बातचीत। संवाद का अर्थ है द्वैत में मे अद्वैत की पहचान या कहे अपनी पूरी पहचान के लिए द्वैत की स्थिति की कल्पना। दो का एक दिखना और एक दूसरे से अलग दिखना सादृश्य है, जिसके लिए आनंद कुमार स्वामी ने कानविजिविलिटी शब्द गढ़ा है, एक साथ दिखना ही सदृश होना है, कमल भी सामने हो, मुख भी हो कमल और मुख का साधर्म्य सामने हो, वह साधर्म्य एक रूप मे कमल मे दिखे, एक रूप में मुख मे, न मुख मे कमल है, न कमल मे मुख है, रूपकातिशयोक्ति की भाषा का प्रयोग करें तो भी कमल और मुख दो प्रतीतियाँ रहती ही रहती है, बस इन दोनो में साधर्म्य गहराता जाता है, अत मे ऐसी स्थिति आती है कि साधर्म्य मात्र रह जाता है, न दिया न बाती बस असह्य विछोह की धूमायितता, घुअँठने का भाव रह जाता है, न काम रहता है, न रति, बस बिछोह की धूपवत्ती आभा रह जाती है। सादृश्य या संवाद मे बराबरी या समानान्तरता समान दूरी पर साथ-साथ चलना भी नही है, जब कौशल्या उत्तर रामचरित मे लव के चेहरे को निरखती है तो कभी उन्हे लगता है, अरे यह तो बहू के चेहरे से मिलता है, सैवोष्ठमुद्रा सच कर्णपाशः, वैसी ही ओठो की बनावट, वैसे ही कान, और कभी लगता है यह तो मेरे रघुनन्दन के चेहरे से मिलता है, यह मिलना ही सवाद है, अत्यन्त एक दिखना और फिर न दिखना, बार-बार देखने और एकत्व के अनुसधान की आकाक्षा बनी रहे, यही संवाद है। आनन्दवर्धन ने ठीक ही परिभाषा दी है सवाद शब्द की, नए दूसरे प्रसंग मे, कि संवाद का अर्थ है अन्य से सादृश्य, कभी प्रतिबिम्ब की तरह, कभी चित्र की तरह, कभी आकृति की समानता की तरह। परन्तु प्रतिबिम्ब की तरह का सादृश्य त्याज्य है और चित्र की तरह भी सादृश्य त्याज्य है क्योकि इसमें एक दोप आ जाता है, हूबहूपन का, जिससे भ्रम होता है और भ्रम से फिर आकाक्षा की निरन्तरता टूटती है। केवल दो सदृश दिखने वाली आकृतियो का संवाद ग्राह्य है।

संवादो ह्यन्यसादृश्यं वस्तुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याख्याणावतुल्य देहिवच्च शरीरिणाम्॥
तत्पूर्वमनन्नात्म तुच्छात्म तदनन्तरम्।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्य सात्म्यं त्यजेत् कविः॥

(ध्व० 4/12-13)

सगीत मे संवादी का भी लक्षण कुछ मिलता-जुलता हुआ है, सवादी एक नही होता, छाया नही होता, पर उससे मिलकर एक समग्र रचना है। साहित्य मे भी सवाद से ही अन्विति आती है, रचनाकार अलग भावक अलग-अलग, पर इन दोनों के साज मिलते हैं तो रचना पूरी होती है, रचना सम्प्रेषण के बिना और ठीक सम्प्रेषण के बिना पूरी नही होती, इसलिए सहृदय के हृदय के साथ सवाद होना रचना की पूर्णता की अपरिहार्य शर्त है। यह पूर्णता ध्यान की एकाग्रता से ही रचनाकार मे

आती है, यह एकाग्रता कोई सम्प्रज्ञात असम्प्रज्ञात समाधि नही है, यह एकाग्रता शुद्ध रूप से जितना भी जीवन दिखा है और अच्छी तरह दिखा है और जितनी भी गूंज उसे उस जीवन की मनोवृत्ति को पहले के शब्दो मे सुनायी पड़ी है, उन सबके साथ ऐकात्म्य ही यह एकाग्रता है, इसी से उचित शब्द अपने आप दौड़े चले आते हैं। एक तरह से कवि ग्राहक अनन्त चित्तों की भावभूमि, शब्द बोध-भूमि और राग-भूमि सब में अपने को स्थापित करता है, फिर इन सबसे विस्थापित करके अपने को एक ऐसी हृदय-भूमि मे स्थापित करता है, जहा संवादी स्वर छिड़े हो और एक अखण्ड राग जन्म ले रहा हो। यही तो कवि की पेराई है सम्प्रेषण की लाचारी के कोल्हू मे, कितनी स्मृतियां खली बनकर बाहर निकल जाती हैं, कितना रंग-रूप, कितनी ध्वनि-रचनायें छँट जाती हैं, सार सार भाग बचता है, हर कवि को अपने निजी अनुभव का बहुत बडा हिस्सा छाँट कर निर्ममता से छाँट कर अलग अलग करना पडता है तब वह प्रेषणीय होता है। हृदय सवाद एक बहुत कड़ी परीक्षा है, एक पुट पाक है, निर्धूम आग मे पकना है, क्षार हो जाना है, रस बनने के लिए क्षार हो जाना है। मनोरम सवाद होता है तो अनन्त विषयों मे से कितने कुछ इने-गिने पर अपूर्व चिन्तित विषय रहते हैं, परस्पर असंलग्न से दिखने वाले विषय रहते हैं पर ऐसे रहते हैं कि एक विषय दूसरे विषय को उद्‌बोधित कर देता है, यही स्थिति तो साहित्य के मर्म ग्रहण के समय हृदय संवाद मे होती है। हृदय सवाद होता है तो मृच्छकटिक प्रकरण मे रोहसेन अपनी धाय रदनिका से यह बतलाने पर वसन्त सेना तुम्हारी माँ होती हैं प्रश्न करता है कि जइ मे जणणी कह आलकिदा, यदि मेरी मा है तो इतने आभूषणो मे लदी क्यो है, तो केवल वसन्त सेना के शरीर के गहने इस मासूम पर मर्मवेधी बात पर न्योछावर नही होते, समूची समृद्धि का खोखलापन मिट्टी की गाडी पर न्योछावर हो जाता है। एक छोटा सा बचकाना प्रश्न पूरे प्रकरण पर छा जाता है। अपने भीतर की वसन्तसेना का सजने का भाव रो पडता है अनलकृत पर गरिमामय मातृभाव को प्राप्त करने के लिए। बार-बार वही पंक्ति पढता हूं और बार बार नयी नयी विह्वलता होती है। बार-बार अभिज्ञान शाकुन्तल की पंक्ति पढ़ता हूँ, अयि चक्रवाकवधुके आमंत्रयस्व सहचरमियमागता रजनी, चकई अपने संगी को उसी पर आमन्त्रित कर ले, लो यह रात आ गयी, लगता है यह रात कम्बख्त ऐसे ही विह्वल क्षण मे आती है, इस आमंत्रण को व्यर्थ करती हुई आती है, पर आगे के अव्यवहित पूर्व क्षण तक साथ है, प्रिय साथ है, रात नहीं आती। बार-बार और असख्य अर्थ तारों की तरह झिलमिलाते हैं और रात आकर नही आती, नही आती। तमिस्रा विभावरी हो जाती है। यह सामान्य अनुभव का भास्वर रूपातर ही हृदय-संवाद के द्वारा सम्पन्न होता है। हृदय-सवाद और कुछ नही, सहज होकर सुख-दु ख पहचानना है, न नितांत आकुल होकर न नितात निराकुल होकर बस, जो है केवल

वह पहचानना है। यह पहचानते हुए भी पहचानना है कि कवि नही, कवि के पात्र नही, हम उनकी रचना मे, उनके पात्र मे कुछेक क्षण डूबकर तिरने वाले तीर्थ-यात्री हैं। सहृदय की अवधारणा से कठिनतर है हृदय सवाद की अवधारणा, क्योंकि सहज होना ही सबसे कठिन है। यह सहजता तीव्र अभ्यास योग से आती है। सहृदय कवि को भी, सहृदय भावकथा पाठक या प्रेक्षक को भी। जब एक-एक शब्द या मुक्ति के माध्यम से सौ-सौ जीवन चित्र उभरने लगें और उन सबको उद्भासित करने वाली एक आभा अलग दिखने लगे, किसी स्थायी भाव की या किसी सचारी भाव की, जो सब मे हो, सबका हो, पर स्फुरित कही एक जगह हो, एक बार होता हो तो समझना चाहिए हृदय संवाद की तैयारी हो गयी। इसके वाद सब कुछ अपने आप होगा, कवि की रचना होगी, भावक की रचना के साथ एकातमता होगी कि वह यह तो मेरी अपनी रचना हुई न और होगी रसनिष्पत्ति।

यह रसनिष्पत्ति भी एक पहेली बन गयी है। मम्मट ने चार मत क्या दे दिये, पूरा दर्शनशास्त्र उलझ पड़ा इस निष्पत्ति के अर्थ को लेकर। निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति है। निष्पत्ति का अर्थ अनुमिति है और किसी ने रस को लौकिक कहा, किसी ने अलौकिक, किसी ने रस का अधिकरण नाटक के अभिनेता मे माना, या नाटक के पात्र में माना, किसी ने प्रेक्षक या पाठक मे। पर किसी ने नही सोचा कि रस तो व्यक्त होने का दुर्निवार सकल्प है, जैसे पहाड़ के हिमनद का सकल्प होता है वहने का, आवरण ग्रहण करके वहने का। रस तो सृष्टि की आकाक्षा है। इस रस को वोया नही जा सकता, न इसे नहरो मे रोका जा सकता है, यह तो अखण्डता की पहचान के लिए भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करता है, पर अतत. होता है अखड समुद्र ही। भवभूति ने ठीक ही कहा :

एको रसः करुण एक निमित्त भेदात्
भिन्नं भिन्नं पृथगाश्रयते क्विवर्त्तान्
आवर्त्तबुद्बुद् तरंगमयान् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हित्तसमग्रम् ॥

कभी भंवर बने, कभी बुलबुला, कभी लहर, कभी नदी, कभी झरना, है तो सब एक जल, जल, जल, जल का अछोर-अथाह विस्तार। अभिव्यक्ति की छटपटाहट ही रस है, अनभिव्यक्त जल है, पर दूसरे तक उछलकर पहुचना ही रस है। अर्पणीय होना ही रस है, रस नही अमृत ज्योति रस है, जैसा कि इस मत्र मे ध्वनित है :

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः।
त्वं यज्ञस्तव वषट्कार आपो ज्योतीरसोमृतम् ॥

हे वाग्देवी, तुम्ही समस्त प्राणियो के भीतर संचरण करती रहती हो, कही भीतर

गुहा में छिपी रहती हो, पर सब ओर तुम झांकती रहती हो, बाहर निकलने के लिए उतावली रहती हो, तुम्हीं यज्ञ हो, समर्पण हो, तुम्हीं वषट्कार हो, ममत्व की विसर्जना हो, ममत्व की परत्व के रूप में विशेष सर्जना हो, तुम्ही अव्यक्त भावों की प्रकाशरूप रसवत्ता हो, तुम्ही पिघली हुई आग हो, तुम्हीं अमृत हो, क्योंकि जड़बिंदु के रूप में मर कर भी तुम मरती नहीं, प्रवाह के रूप में जीवंत हो जाती हो।

इस प्रकाश के रस रूप में विवर्त की तलाश प्रत्येक रचेता, प्रत्येक सहृदय को होती है, चाहे वह रचनाकार हो, चाहे स्वयं रचना न करते हुए भी रचना की संभावना अपने में देखने का सामर्थ्य रखने वाला भावक या ग्राहक हो, यह तलाश न हो तो जीना दूभर हो जाय, निरर्थक हो जाय। साहित्य कुछ और करने का दावा नहीं करता। बस इतना ही दावा करता है कि किमन्यथा रोदिति ग्रावा, सोमलता को कूंचने वाला पत्थर एक न एक दिन सोमरस तैयार करते-करते स्वयं सोमरस बनकर निचुड़ पड़ेगा, बस उसके हृदय के साथ भी संवाद स्थापित करने का उदार और विशाल हृदय मिल जाय, जिसे मिल जाय, सब मिल जाय। बात तो और बढ़ायी जा सकती है पर सहृदय श्रोता संकेतग्राही होते हैं, अधिक कुछ बतलाना उनकी सहृदयता का असम्मान करना होगा। इसलिए यहीं विराम लेता हूं।

यह स्व० पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्मृति में विश्वभारती में दिये गये व्याख्यान आलेख है।

3

श्रीमद्भागवद्रसविमर्श

मैं भागवत की बात यही से शुरू करता हू जैसा कि मेरे मित्र ने सकेत दिया कि यह शुक का उच्छिष्ट है। शुकमुखादमृतद्रव-सयुतम्। मै जो बात कहने जा रहा हूं वह मधुसूदन सरस्वती का उच्छिष्ट है। अपनी बात मै क्या कहूंगा? श्रीमद्भागवत के बारे मे कुछ भी कहना हो तो इस प्रतिज्ञा को सामने रख करके ही कहना होगा 'पिबत भागवतं रसमालयम्'। भागवत पूरा रस है। उसमे अलग से रस-विमर्श तो हो ही नही सकता। उसके एक-एक अक्षर मे रस है। सारा ग्रंथ ही रसरूप है सारा ग्रथ ही रस के विग्रह श्रीकृष्ण का ही रूप है। उनका वाङ्मय विग्रह है। जो उसमें कहा से शुरू करें कहां से अन्त करे, कुछ समझ मे तो बात आती नही। इसलिए उसमे हजार-पद्रह सौ रस नही हैं, बस एक रस है। लेकिन वह रसरूप श्रीकृष्ण की तरह से है। हाथ मे आनेवाला रस नही है। कुन्ती ने हस्तिनापुर से श्रीकृष्ण की बिदाई के अवसर पर यह निवेदन किया, और उसमे, लडाई में उनकी क्या भूमिका थी अपने लडकों की रक्षा मे क्या भूमिका थी, कुछ भी नही कहा। शुरू यहीं से किया .

गोप्याददे त्वयि कृतागसि दाम तावद् या ते दशाश्रुकलिताञ्जनसंभ्रमाक्षम्।
वक्त्रं निनीय भयभावनया स्थितस्य सा मां विमोहयति भीरपि यद् बिभेति॥
(1/8/31)

सबसे अधिक जो तुम्हारा बिंब मेरे मन को बराबर विमुग्ध करता रहता है वह उसका स्मरण जो मैंने देखा नही है केवल सुना है कि यशोदा ने हाथ मे डंडा लिया है। तुम्हे ओखल मे बांध दिया है और तुम सिर नीचा किए हुए खड़े हो, आखो से आसू गिर रहे हैं। काजल पुंछ करके फैल रहा है। आखें लाल हो गयी है। जिससे सारा जग भयभीत होता है, वह भय की मुद्रा में खड़ा हुआ है। वही रूप मुझे सबसे अधिक विमोहित करता है। एक परेशानी का रूप यह है जो कुन्ती को विमोहित करता है। दूसरी परेशानी का रूप है युद्ध मे उत्तरीय सरक गया है, पसीने से लथ-

पथ हैं। बाल गालों पर चले आये है और उन्होने रथ का पहिया उठा लिया है भीष्म को मारने के लिए। भीष्म को मृत्यु के समय वही रूप सबसे अच्छा लगता है।

स्वनिगममपहायमत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थ।
धृतरथचरणोम्याच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीय.॥
(1/9/37)

अपनी प्रतिज्ञा भूल जाते हैं कि हमें शस्त्र नही उठाना चाहिए और मेरी प्रतिज्ञा सच करना चाहते हैं। और धृतरथचरणोभ्ययात्चलद्गु.। रथ का पहिया उठाकर ऐसे टूट पड़े है हरिरिव हन्तुमिभ गतो जैसे—सिह हाथी के ऊपर झपटे तो मैं उस रूप का ध्यान करना चाहता हूं। मरते समय प्रसन्न वदन वरदान देने वाले श्रीकृष्ण का स्मरण नही करना चाहता हू। मैं परेशान :

युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरै र्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा॥
(1/9/35)

जिनके अग को मैं छेद रहा हू जो मेरे आवेध्य बन करके हैं उनको मैं देखना चाहता हू। सारे ससार को आवेध्य करने वाले मेरे आवेध्य हो रहे है, उस क्षण को फिर से जीना चाहता हू। कोटि-कोटि लोगो को आकुल करने वाले, मेरे कारण आकुल हो रहे हैं उस आकुलता को मैं देखना चाहता हूं। श्रीकृष्ण के रस मे ऐसा विपर्यास कि श्रीकृष्ण को बेचैन देखने के लिए समष्टि चैतन्य को विक्षुब्ध देखने के लिए तैयारी है। ठीक, हम परेशान हो उनके लिए, पर वे परेशान हो तो हमारी परेशानी का मूल्य चुक जाता है। तब जब श्रीकृष्ण कहते हैं कि यदि देवताओ की ही आयु मिले तो मैं गोपियो के ऋण से मुक्त नही हो सकता, तो लगता है जैसे उस आकुलता की पूरी की पूरी मजूरी एक साथ मिल गयी है। भगवान् की बात ईश्वर की बात मोक्ष की बात सब करके भी व्यास जब उदास हो जाते है कि कुछ नही हुआ। ऐसा कुछ कही नही किया मैंने जिससे 'येनआत्मासम्प्रसीदति' जिससे आत्मा-को प्रसन्नता हो, और जब नारद ने उनसे कहा कि इसका कारण यह है कि आपने सब कुछ कहा है, पर मन की बात नही कही है, आपने हंसों के पीने के लिए आप्त काम पुरुषो की कामना जगाने के लिए, जिनकी प्यास बुझ चुकी है, ऐसे लोगो के हृदय मे प्यास जगाने के लिए कुछ नही लिखा है। प्यास बुझाने के लिए लिखा है लेकिन जब सारी प्यास बुझ जाए तो भी कुछ प्यास और है, उसको उद्बोधित करने का काम तो आपने किया ही नही है। जो निकाम परमहस है उनको तो उद्-बोधित करने के लिए तो आपने कुछ काम ही नही किया है। व्यास ने तब भाग-वत कथा लिखी, और ऐसी कथा आती है, शुकदेव की जब तलाश होने लगी कथा सुनने के लिए। शुकदेव को तलाश करने लगे व्यास देव तो समाधि मे मग्न उनकी

समाधि टूट नहीं सकी थी, तो उन्होने श्लोक पढ़ा कि वृन्दावन मे प्रवेश कर रहे हैं श्रीकृष्ण :

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै—
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥

(10/21/5)

अब इस श्लोक के सुनते ही शुकदेव आ गये, अर्थात् उनकी आख खुल गई। तो व्यास को ऐसे परमहंस भाव में स्थित व्यक्ति की समाधि तोड़ने के लिए यही श्लोक सबसे उत्तम जान पड़ा। क्यों जान पड़ा ? किस प्रकार का रूप है यह ? श्री पूज्य करपात्री जी यह कहते थे कि इसमे सारा सौन्दर्य नटवर वपुः में है। इस शरीर में नटता भी है वरता भी है। साथ साथ खिलाड़ी भी है और खिलाड़ी के साथ साथ वह एक विशेप आत्मीय व्यक्ति भी है। तो खिलाड़ी होता है वह बड़ा अनात्मीय होता है, बडा निठुर होता है, तमाशा दिखलाता है, बहुत चमत्कृत करता है और चला जाता है। श्रीकृष्ण केवल वैसे नही, केवल विप्रयोग शृंगार नही कि तमाशा दिखाए और चले जाये। वे नित्य सयोग शृंगार है। वर है, वर होने के नाते नित्य संयोग के अधिष्ठित हैं। दोनों एक ही शरीर मे कैसे ? ऐसा कैसे सभव होता है कि श्रीकृष्ण नट भी है वर भी हैं। नट और वर दोनो की भूमिका में एक साथ रहने के कारण वे और अधिक आकर्षक है। जितने परिचित हैं, उतने अपरिचित हैं। जितने जाने हुए है उतने ही अज्ञात है। यदि इस वर वाली भूमिका मे न रहे उसी चमत्कार की भूमिका मे रहे तो इतनी आत्मीयता साधारण से साधारण व्यक्ति को न हो। कुन्ती को उसी जगह कहना पड़ा है कि तुम जा रहे हो यह सोचकर के जाओ नदिया सूख रही हैं, धरती सूख रही है। सब प्रसन्नता खो रहे है। तुम देखते हो इन्हे तो ये हरी-भरी रहती है। पूरी रहती है। तुम्हारी उपस्थिति मात्र से ऐसा कुछ होता है एक प्रेम का ज्वार रहता है तुम नहीं रहते हो तो सब कुछ बदल जाता है। उनकी उपस्थिति मे ऐसा जो आत्मीय भाव है उनके वरत्व के कारण है और जो इतना सब कुछ करते है और लोग अचरज मे पड जाते हैं तो फिर एक स्मरण आ जाता है कि अरे यह तो एक खिलाड़ी है। खेलता है। दावानल पी लिया उन्होने और उन्होने समझा बड़ा भारी काड है उन्होने कहा कि इसमे कुछ था ही नही। इसमे कुछ नही था, तुम लोगों को भ्रम रहा होगा। और उनके मन पर छा गया कि यह एक तमाशा था। कठिन से कठिन ताप को अवास्तविक बनाने वाले और अत्यन्त सामान्य महत्त्वहीन क्षण को एकदम प्रकाश का एक शिखर बनाने वाले श्रीकृष्ण इसीलिए इतने प्रिय है। और इस देश के रागात्मक हृदय के आराध्य हैं। उनमें कुछ ऐसा है कि उन्हे बराबर कोसने को मन करता है और उनके पीछे-पीछे बराबर

भटकने को मन करता है। जो प्यार करता है, वह कोसे बिना नही रहता, जो प्यार नही करता है वह भी कोसे बिना नही रहता कि हाय,कैसे लोग हैं,कितने मूर्ख लोग हैं, कि श्रीकृष्ण के पीछे पडे हुए है। ये गोपिया कितनी जड है, इनके पीछे पडी हुई हैं। उनको ईर्ष्या होती है, जलन होती है कि कोई ऐसा प्यार हो सकता है। प्यार का कोई ऐसा आलबन हो मकता है। हरेक आदमी कोशिश करता है कि इतना आलबन कैसे मिल गया है किसी को। जो बडे ज्ञानी भक्त हैं, उनको स्पृहा होती है। उद्धव को स्पृहा होती कि अगर हम गोपी नही हो सके तो हम उनकी पद-धूलि मे से उठने वाले तृण होते, क्षुप होते, झाड होते, वृक्ष होते, क्योकि उनको तो सुलभ है श्रीकृष्ण के प्यार मे बनी गोपी की सन्निधि है। गोपियो को श्रीकृष्ण की प्रकृति प्राप्त है, क्योकि वे सहज है, उनमे कोई दुराव नही है, कोई छल-कपट कोई संकोच नही है। जिसमे दुराव रहता है, चाहे सच्चाई का ही दुराव क्यो न रहता हो जैसे कि रुक्मिणी को हुआ। उन्होने कहा कि नही मैं पग की धूलि तो श्रीकृष्ण को नही दे सकती। वैसे श्रीकृष्ण हमारे आराध्य हैं। हम उनको पैर की धूलि देंगी, तो ये सच्चाई क्या है? यह दुराव है। गोपी के मन मे दुराव नही है उन्होने कहा कि धूलि जितनी चाहो उतनी ले जाओ, यदि उनका सिर दर्द हमारी चरण धूलि से अच्छा होता है तो मनो ले जाओ। कोई दुराव है नही। उनके लिए जो प्रिय है, उनके लिए जो हितकर, उनके लिए जो सुखकर है वह हम दे देगे। उसमे क्या सकोच। हमारा है ही क्या कि हम सोचे उसमे। सब उसी का है। इतनी बडी आत्मीयता जहा हो उसे रस की सज्ञा दें, आत्मा की सज्ञा दे, जो भी सज्ञा आप दे दें। श्रीमद्भागवतकार का लक्ष्य यह है कि पहले सब कुछ अपना समर्पण करने के लिए तैयार हो जाओ, नारद की उस भूमिका को समझो जो दासीपुत्र होकर के भगवान के दर्शन की लालसा उन्होने कमायी और दूसरे जन्म मे नारद के रूप मे यह सौभाग्य पाया कि उनका गुण-कीर्तन करे। या व्यास के उस टूटते हुए मन के साथ एकाकार हो सकें, महाभारत, वेद-सहिताओ का संपादन किया, पुराण लिखे, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष, के व्यवस्था की इह लोक उस लोक के बीच सामजस्य स्थापित किया और हुआ कुछ भी नही। अनुभव यही हुआ जैसा भागवतकार ने कहा कि

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्।
कुतः पुन. शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पित कर्म यदप्यकारणम्॥

(1/5/15)

जिसमे अच्युत भाव न हो, अच्युत के लिए भाव न हो और न चुकने वाला भाव न हो वह क्या मूल्य रखता है? वह नैष्कर्म्य क्या मूल्य रखता है? नैष्कर्म्य जब उस भाव से आप्लुप्त हो तब मतलब रखता है। गोपी मथुरा नही जाती है, वह दूर नही है, हाथ मे झाडू लेकर मथुरा पहुच सकती थी, लेकिन नही, काम नही छोडती घर सारे कामकाज सवारती है। श्रीकृष्ण के लिए प्यार काम मे फैल जाता है। इस रूप

में फैल जाता है कि उद्धव को कहना पडता है :

या दोहनेऽवहनने मुसलोपघातप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना. ॥

(10/40/15)

गाय दुहते समय, धान कूटते समय, चावल बनाने के लिए मूसल चलाते समय, झूले पर झूलते समय, बच्चा रो रहा है, उसको चुप कराते समय, उसको उबटन कराते समय कोई भी काम हो उन्ही का काम। दूहना उन्ही के लिए, मथना उन्ही के लिए बच्चो को नहलाना, उन्ही के लिए सारा काम, उन्ही के लिए और अनुरक्त-धिय. जिनका ध्यान अनुरक्त है। ध्यान प्राय: निर्मल होता है, श्वेत निर्वर्ण लेकिन यह ध्यान अनुरक्त ध्यान है, उनके आने पर दूसरे रागो का दूसरे रंगो का कोई अस्तित्व नही रह जाता। अन्यत्र कहा :

इतररागविस्मारणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥

(1/31/14)

दूसरे जितने राग है सब भूल जाते है, रह नही जाते। इस राग के रहते हुए दूसरे रागो का कोई अस्तित्व नही रह जाता। क्योकि यह राग तो एक विचित्र प्रकार का राग है। जितने साहित्यशास्त्र मे राग वर्णित हैं, उसमे जो उत्कृष्ट राग है वह राग, इतना गहरा है कि उसमे सब रंग डूब जाते हैं। ध्यान में जब यह रंग भीतर आता है तब सारा काम वही हो जाता है, मथानी भी श्रीकृष्ण बन जाती है, दूध भी कृष्ण बन जाता है, गाय भी बन जाती है, बछड़े भी बन जाते है, और श्रीकृष्ण-मयता में काम रस हो जाता है, काम साधारण काम नही रहता, उस काम मे कोई थकान नही होती अविराम चलता रहता है दैनिक कर्म। वह क्रम नही रुकता लोग समझते है कि ऐसी तल्लीनता कर्म से पलायन है। ठीक उल्टी बात है कि कर्म को सरस बना करके सप्रयोजन बना करके कर्म को एक तरह से ऐसे आत्मा से जोड़ करके कि यह काम तो सही रूप में अपने लिए है, इस काम का लेखा-जोखा मै ही लेनी वाली हू कोई दूसरा लेने वाला नही है, अपने लिए करना है, यह अपनी प्रीति के लिए करना है, अपने प्रिय की प्रीति के लिए करना है जो अपने से भी ज्यादा प्रिय है, तो कर्म रस हो जाता है और वह ज्ञान भी रस हो जाता है, जो कृष्ण को अर्पित होता है, क्योकि तब उस ज्ञान की दशा मे, जो एक अवधूत भाव आता है तो उसमें स्मरण नही रहता कि क्या चाहिए। शुकदेव ने कथा जब शुरू की तो उन्होने उसी अवधूत भाव का स्मरण किया :

सत्यां शितौ किं कशिपो प्रयासै
र्बाहौ स्वसिद्धे ह्युपबर्हणैः किम् ।
सत्यञ्जलौ किं पुरुधान्यपात्र्या
दिग्वल्कलादौ सति किं दुकूलैः ॥ (2/2/4)

पृथ्वी है तो शय्या की क्या आवश्यकता ? अपनी बाह है तो तकिया की क्या आवश्यकता ? अपनी अंजलि है तो फिर पात्र की क्या आवश्यकता और जब दिशाएँ अबर के रूप मे मौजूद है, वल्कल के रूप मे जब दिशाए वल्कल होकर के दिखती है तो फिर रेशमी वस्त्र पहनने की क्या आवश्यकता ? हमारी दिशाए आवाहित कर रही है कि यह तुम्हें निर्मल अबर सौंप रहे है, तुमको। यह तो अवधूत भक्कड़ भाव आता है किसलिए आता है ? किस कारण आता है कि एक सत्ता है उसके जानने मे जिसका होने से और जो होने मे कुछ घटित होता है और उस घटित होने का स्वाद मिल जाने पर दूसरे स्वाद फीके हो जाते हैं, जितने रस है तथाकथित रस हैं, रसाभास कहना चाहिए उनको, वे विरस हो जाते है। तब तुलसीदास जी ने कहा कि—

'सब षटरस नव रस रस अनरस ह्वै जाते सब मीठे' वे नौरस षट रस अनरस हो गये। भक्ति-रस भी एक ऐसा शब्द है जिसकी लक्षणा की जा सकती है। इसलिए नही कि भक्ति का अर्थ ही लक्षणा है। किन्तु इसलिए कि जब इस भाव को इस स्तर की भक्ति प्राप्ति होती है तब भक्ति की कई चीजे समाप्त हो जाती हैं। भक्ति का एक अर्थ है गौणता कि दूसरे की अपेक्षा वही मुख्य है कोई मुख्य हमारा पर रहे और हम उसके पीछे-पीछे आयें। दूसरा अर्थ है सेवा, तीसरा अर्थ है हिस्सा बँटाना, बाटना। इसमे सारे अर्थ उद्‌भिन्न होते है भक्ति रस मे। एक-एक करके लेकिन एक चरम परिणति उसकी इस प्रकार के मनोभाव में होती है जहा पर मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि "धारावाहिकता गता। एक धारा चल पड़ती है। और जितने ये छोटे-छोटे भाव है वह एक दूसरे को ठेलते हुए आगे जाते हैं तो उसमे किसी एक का महत्त्व नही रह जाता। दास्य भाव का महत्त्व नहीं रह जाता, माधुर्य भाव का अलग से महत्त्व नही जाता। सख्य का भी महत्त्व नही रह जाता। जितने भाव हो सकते हैं उनके स्थान पर उस निरतरता का महत्त्व रखता है जिसमे आदमी बहा दिया जाता है उस निरतरता मे कभी हो सकता है कभी आदमी डूबे कभी उतराय, कभी हो सकता है कि आदमी यह अनुभव करें एक क्षण मे भी कोटि-कोटि युगो का अंतराल, अनुभव करें और यह अनुभव करें कि देखना तो होता ही नही है। देखने मे क्यों बाधा पड़ती है। एकटक निहारते, जाने कितना समय बीत जाए पता न चले। पर रहती है निरतरता, दिन हो, रात हो, श्रीकृष्ण सामने हो, श्रीकृष्ण सामने न हों वह निरंतरता टूटती नहीं है। इसी को रस कहना चाहिए। रस तो जल ही का नाम है। जल का स्वभाव ही है द्रुत होना और चलते रहना। और जितना ही चलते रहें उतना ही दूसरो को चलाते रहने मे समर्थ हो सकता है। श्रीमद्‌भागवद का रस इसी प्रकार है कि यह रस कही ठहरता ही नही। देवकी के कारागार मे नहीं ठहरता, गोकुल के गाव मे नही ठहरता, वृन्दावन मे नही ठहराता, मथुरा मे नही ठहराता, कही नही ठहरता। किसी के चित्त मे यह ताब नही है कि ठहरा सके। बहता रहता

है। यह शोभा का समुद्र किसी भाजन में नहीं आता। हर भाजन में नहीं आता। हर भाजन छोटे पड़ जाते हैं। हर द्रुति छोटी पड जाती है और हर व्यक्ति को दूसरे की ललक रहती है कि शायद श्रीकृष्ण का प्यार उन्हें मिला होगा, उन्हें मिला होगा, उन्हे मिला होगा। लेकिन प्यार तो श्रीकृष्ण का मिलता ही नही, प्यार से अधिक मिलता है प्यार की एक अछोर चाह। एक अतृप्त तृषा। किसी भी उपाय से न बुझने वाली प्यास। जिस प्यास का चित्रण श्रीमद्भागवत ने इस रूप में खींचा है कि :

दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ॥

जिस शब्द का प्रयोग किया भागवतकार ने किया वह 'धृतासव' शब्द है। प्राण कहीं रखे हुए हैं। जिस जगह प्राण रखे हुए हैं, अर्थात श्रीकृष्ण के पास प्राणों की धरोहर रख दी गयी है और गोपियां तलाश इसलिए कर रही हैं कि तुम्हारे यहां धरोहर रखी हुई है। जब उन प्राणों की सुधि आती है, जीवन की सार्थकता की सुध आती है तो तुम्हारी सुधि आती है। तुम जीने के साथ जुड़े हुए निश्वास के साथ जुड़े हुए हो। वह धरोहर रखी हुई है। ऐसी दिशाओं में व्याकुल होकर के घूमती है हमारी धरोहर कहा है ? हमारी धरोहर कहां है ? ऐसी धरोहर श्रीकृष्ण के पास है। और इसलिए उनका आमंत्रण प्राणों के फूंक से है उनका आमंत्रण प्राणो के लिए है इसीलिए प्राणो की फूंक से वंशी के निनाद से आमंत्रण होता है। रस के एक विशाल पारावार जैसे समुद्र मे आने के लिए निमंत्रण वंशी के द्वारा दिया जाता है। सारे सबधो को नष्ट करने वाली, सारे रागों को विस्मृत कराने वाली सारे सूत्रों को तोडने वाली और एक अवशता की स्थिति में लाने वाली यह जो पुकार है, कहा जाता है कि वंशी और रुद्र मे संवंध है, तादात्म्य संवंध हो, कोई संवंध हो, लेकिन सहार का काम तो वंशी करती ही है। वह प्राणों के संस्कार का काम करती है। क्योकि नये प्राण ढालना चाहती है। नये प्राण ढालने के पहले वहुत कुछ हर लेती है। जितने भी उसमें संस्कार होते हैं इनके लिए जीना, इनके लिए जीना, उनके लिए जीना, सब जीना व्यर्थ हो जाता है। केवल जीना सार्थक रह जाता है। श्रीकृष्ण वह जीना वन जाते हैं, वह जीवन वन जाते हैं, विद्यापति के शब्दों में देह के जीवन 'एक सार' बन जाते हैं।

इस दृष्टि से जब हम भागवत पर विचार करते हैं तब हमको लगता है कि भागवत इतने ज्ञान के खंड रखता है, वीच-वीच में, इतने मोह छोड़ने के खंड रखता है, पर आदि से अन्त तक वह एक सूत्र है। श्रीकृष्ण को देखने की ललक, श्रीकृष्ण की लीला में डूबने की ललक का सूत्र।

यह पहचान ही नहीं हुई कि यह अस्तित्व तो उनके कारण तब था, वे नहीं हैं तो यह असत् है.

तद्‌वै धनुस्त इषवः सरथो हयास्ते सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति ।
सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्त भस्मन् हुत कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥
(1/15/21)

एक क्षण मे वही घोड़े, वही धनुष बाण, वही रथी, सब कुछ ईशरिक्त होने के कारण उनसे खाली होने के कारण असत् हो गया। जैसे भस्म मे दी गयी आहुति असत् हो जाती है, जैसे कुहरे मे कोई रसोई पकाये वह रसोई असत् हो जाती है, जैसे ऊसर मे कोई बीज बोये वह बोना असत् हो जाता है, वैसे सब असत् हो गया है। क्योकि उनके कारण सब था, सत्तामात्र उनके कारण हैं, अस्तित्व मात्र उनके कारण है, जीवन के वे प्रयोजन है, जीवन के कारण है, प्रेरक हैं, परिणाम है सब कुछ वही है। वे नही हैं तो ये जो छोटी-मोटी सुविधाएं थी, गाडीवधारी अर्जुन की, फाल्गुन की ये सब असत् हो गयी। इस प्रकार से असत् के भान की तीव्रता से सद् मे प्रवेश कराया जाता है। प्रयोजन हैं इसमे कि जब तक आदमी इस अनुपस्थिति से उपजी हुई खालीपन की स्थिति को नही समझेगा, रीतेपन को नही समझेगा, तब तक श्रीकृष्ण से आपूरित होने का वह पात्र नही हो सकता। आपूरित होने के लिए आवश्यक है कि पूर्ण रूप से विरेचन हो जाय उस कुम्भ मे और कोई प्राण न रहे केवल एक प्राण की स्थिति उसमे हो, तभी पूरण हो सकता है। इसकी तैयारी होती है और इसके बाद ज्ञान काड की लम्बी बडी शृखला सातवें स्कध तक चली जाती है। बीच-बीच मे ऐसे सूत्र हैं उन सूत्रो से पता चलता है कि पात्रता किसको मिली। श्रीमद्‌भागवत के अनुसार पात्रता अकिंचन को ही मिली और शायद इसीलिए श्रीकृष्ण की प्रतिज्ञा है .

वयं निष्किचना शश्वन्निष्किचजजनप्रियाः।

हम तो निष्किचनता हैं, हमको निष्किचन ही लोग प्रिय होते हैं। तो निष्किचनता के कई प्रकार है, एक प्रकार वृत्रासुर है, जो असुर देह पाए हुए है। तो वह निष्किचन है, उसको देवत्व नही मिलेगा, देवता का विरोधी बना रहेगा। उस विरोध मे भी चूकि निष्किचन हो चुका है जो प्रकाश हो सकता है, उससे वचित हो चुका हू। देवता तो प्रकाश रूप है उससे वचित हो चुका है। इसलिए वह पात्र है। और इद्र तो नही कह सकते, वह कहता है जैसे अवधि बीत जाते ही पत्नी पति के लिए प्रतीक्षा करने लगती है, आकुल हो जाती है वैसे ही मै तुम्हारे लिए आकुल हू। मेरी दिदृक्षा, देखने को मेरी प्यास उसी प्रकार की है जैसे चिरौटे अपने मा के लिए जोहते है कि आएगी, चारा देने के लिए, जैसे बछडा अपनी मा को दूध के लिए गाय की दूध के लिए तरसते है, वैसी तरस उसमे है। मुझे कुछ चाहिए नही यह सब स्वर्ग, अपवर्ग सब कुछ नही चाहिए, स्वर्ग का राज्य कुछ नही चाहिए मुझे तुम चाहिए। तुम्हे देखना चाहिए। इस प्रकार का सूत्र चाहे उसमे हो, असुर राज प्रह्लाद में हो, मिलता जाता है। विदुर मे हो, घर मे टूटे हुए

विदुर मे हो, ऐसे ही लोगों में ही यह पात्रता है। आगे चल करके भी ऐसी पात्रता दिखाई पडती है, तो यह ध्यान देने योग्य बात है कि दो ही प्रकार के लोगो मे पात्रता आती है, जो अपना सब कुछ सौप देते हैं और अपने को कुछ भी नहीं समझते तो हम तो है ही नहीं कुछ। अरे हमारे बीच मे कृष्ण रहे, हम तो विश्वास भी नही कर सकते। कैसे रहे हम जानते थे कि ये तो अखिलदेहिनाम् अतरात्मा है, लेकिन क्यो है ? हमारे बीच में हम नही समझ पाये तो यह अपनी हीनता का बोध नही है। अपने मे कुछ है ही नही, सिवा उनके, इसका बोध है। इसका बोध जिसको होता है, वही उस रस का पात्र होता है। वह छोटा नही होता है, वह बडा होता है और इस बोध को जगाने के लिए श्रीमद्भागवत एक सोपान क्रम रखता है। और तमाम भक्तो के क्रम मे सबसे अन्त मे गोपियो का नाम आता है। उत्कर्ष की भूमिका उनकी है इसलिए उनका नाम आता है और उस भूमिका की रचना श्रीमद्भागवत का इसलिए चरम उद्देश्य है कि शुकदेव तक को उसकी तरस है। उद्धव तक को उसकी तरस है, नारद तक को तरस है। ईर्ष्या है कि उतनी अकिंचनता सब कुछ होते हुए हमारे भीतर क्यो नही आयी ? उस अकिंचनता की एक पहचान है। वह पहचान पहले ही भूमिका मे आ गयी है—

कृतमनुकृतवत्य उन्मदान्धाः प्रकृतिमगन् किल यस्य गोपवध्वः।

(1/9/40)

जो कुछ उन्होने किया उसको गोपियो ने किया। रस तो और कुछ है ही नही रास की रचना है। श्रीकृष्ण लीला मे डूबने की, डूब करके उसकी प्रस्तुति करने की। कोई गोपी पूतना बनती है, कोई कृष्ण, कोई फिर कोई असुर बनती है, कोई कुछ कोई कुछ माने जो कुछ भी श्रीकृष्ण ने किया, सारी लीला जो आखों के सामने घटित हुई उसमे गोपिया डूब जाती हैं और वही हो जाती है। तो उनकी प्रकृति को प्राप्त हो जाती हैं। श्रीकृष्ण की सहज जो प्रकृति है विश्व सचरणशील, विश्व-मोहन, विश्वउन्मादक, विश्वाह्लादक जो प्रकृति है उस प्रकृति को प्राप्त हो जाती है। यह इसलिए कि उनमे उन्मदान्धता है, वे केवल पागल नही है, वे अधी भी है ? अब इसका अर्थ क्या है ? इसका अर्थ यह है कि कहा जाता है कि एक नीलमणि है ये और मणिया चाहे जैसी हो, लाल ओल होती हो ये मणि नील है। यह प्रकाश भी नील प्रकाश है। नील प्रकाश होने से इसको एक सुविधा हे कि यह घने से घने तमस् मे चला जाता है। क्योकि उसका सजातीय है, उस तमस् का सजातीय है। और गोपिया अपने मोह को, अपने व्यसन को, अपने तमस् को श्रीकृष्णमय बना देती है, जो कोई दूसरा नहीं बना सकता। अपनी मोहान्धता मे श्रीकृष्ण को रखती है। ऐसी भयकर महासक्ति के विषय के रूप मे श्रीकृष्ण को रखती है कि यह मोहाशक्ति श्रीकृष्णमय जब बन जाती है तब वहा पर कही भी किसी प्रकार के दुराव के लिए कोई गुंजाइश नही रहती है। जिसका अधकार प्रकाशमय हो जाता हो वहां अंधकार

का कही कोई टुकडा जर्रा भी बचेगा नही पर यह होना कठिन होता है। आदमी अपने प्रिय को अच्छी चीजें देता है सत्व देता है, सात्विक चीजें देता है। या राजस चीजें देता है, भोग लगाता है। लेकिन अपना तमस् उनको सौंप दे यह कोई अधा ही आदमी करेगा। कोई बिल्कुल उन्मद आदमी ही करेगा। यह उत्कर्ष ऐसी तादात्म्य बुद्धि से आता है जो सहज हुए बिना मिल न ही सकता। सहज होने का अर्थ यह है कि एक ऐसा रिश्ता, जिसमे सारी चीजें उसी से उद्भूत हों। जीवन के सारे व्यापार उसी से उद्भूत हो सारे सबंध उसी से उद्भूत हो—

यत् पत्यपत्यस्सुहृदामनुवृत्तिरङ्ग स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वदीशे प्रेष्ठो भवास्तनुभृतां किल बंधुरात्मा ॥
(10/29/32)

सब के साथ जो भी संबध है तुम्हारे कारण है, क्योकि आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है। इतना प्रिय मानना कि दूसरे प्रियेतर रह न जाय। यह सहजता है। उनका खडन नही है। उस जीवन से विलगाव नहीं है। साधारण से गँवार जीवन से कोई विलगाव नही है। उस जीवन मे रहते हुए आसक्त रहते हुए, उसमे ससक्त रहते हुए, उसमे केवल एक ही अर्थ पाना बहुत मुश्किल चीज है। लेकिन चूँकि उसमे इतना सामान्यभाव है वे सामान्य सत्ता को इतनी गहराई से समझ सकती है, सामान्य होने के कारण कि उन्हे कोई विशेष चाहिए ही नही और जिसको विशेष नही चाहिए, जो विशेष नही है, जो निर्विशेष है उसी को श्रीकृष्ण मिलते है। तो इस भागवत की रचना निर्विशेषीकरण के लिए है और इसीलिए इसे पारमहंस्य-सहिता कहा जाता है। परमहसो के लिए इसकी रचना मुख्यरूप से की गयी है कि पारमहस्य भाव किसी का विशेष रहने नही देता है। इसके लिए कोई तैयार हो जाय तब वह पात्र होता है। इसमे कहे कि यह माधुर्य प्रेम है, वात्सल्य प्रेम है, सख्य प्रेम है, ऐसा है इसके अनेक भेद किए जा सकते है। तो मैं समझता हू कि वे भेद नही है वे सोपान मात्र हैं। रस केवल एक है और वह रस श्रीकृष्ण का वह भाव है जिसके आगे दूसरे भाव छोटे पड़ जाते है। दूसरे भाव कोई अस्तित्व नही रखते, कोई स्वाद नही रखते, कोई अर्थ नही रखते। मित्रो, श्रीमद्भागवत के बारे मे शास्त्रीय दृष्टि से मैने कोई चर्चा नही की है। आपको लगेगा कि साहित्य शास्त्र के विद्यार्थी से अपेक्षा की जाती है कि प्रमाणित करे कि यह रस निष्पन्न हुआ और ऐसे निष्पन्न हुआ लेकिन उसमें बड़ी कठिनाई है। शास्त्र की जो सरणि है, जिन्हे लेकर के है वहां उतने भेद है और उतनी गाँठे है कि उनको लेकर के चलें तो श्रीकृष्ण के इस समुद्र मे प्रवेश ही नही करने को मिलेगा। जिसको हम कहते है वीर रस, जिसको हम कहते है भयानक रस, जिसको हम कहते है रौद्र रस, तो क्या करे—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ।।

(10/43/17)

एक शरीर में वीर भी है एक शरीर मे रौद्र मूर्ति भी है। एक शरीर में वीर की भी मूर्ति है और एक ही शरीर मे भयभीत है और ये सब विरुद्ध कहे जाते है शास्त्र मे एक दूसरे से। भयानक और वीर तो परस्पर विरुद्ध है। जहां वीर का आश्रय होगा, वहां भयानक का नही होगा। और यहां पर है, तो क्या कहा जाय। इसलिए कि जितने विरोध है यहां तो परिश्रान्त है विरोध तो रह नहीं जाता। जहा सारे विरोध परिश्रान्त हो जाते है वहां कोई इस प्रकार के कोटि बनाने से विश्लेषण करना ठीक नही होता। समझने के लिए हम यह कही कह दे कि यहां पर यह अलकार है तो इस अलंकार से इस प्रकार के रस का पोषण होता है। इस शब्दावली से विप्रलंभ-शृंगार का पोषण होता है, यहां संयोग शृंगार का पोषण होता है लेकिन जब उसको ध्यान से देखें तो क्या कहेंगे ? मम्मट को ध्यान में रखें तो जहां कहा है :

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुंदगीतमावर्तलक्षितमनोभव भग्नवेगाः ।
आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारे गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहारा. ।।

(10/21/15)

यहा कहे कि नदियो ने जब उनका वंशी गीत सुना तो उनके भीतर काम जगा। और जब नदियों के भीतर काम जगा, इसे कहेंगे रसाभास। जड़ में क्या काम जगा, लेकिन इसे रसाभास कहेंगे तो यही कहना पड़ेगा कि आपको भागवत का कोई अधिकार नही है।

"अस्पन्दनं गतिमताम्" जो गतिवाले है, उनको स्पन्दित करने वाला है और जो जड है उनको चलाने वाला है. यह व्यापार जिसमें है वहां पर यह कोटियां, प्राकृत रस भेद, उपयोगी नही होते। वह इस रूप में सोचना चाहिए कि इस रस के विमर्श के लिए श्रीकृष्ण को शरीरी रस मानना चाहिए। रस का ही शरीर मानना चाहिए। और रस को समझने के लिए उनकी आराधना करनी चाहिए, श्रीकृष्ण को समझने के लिए नही। रस क्या है यह जानने के लिए श्रीकृष्ण की आराधना करनी चाहिए कि रस ऐसा होता है। इस अनुभव को अच्छी तरह से समझना हो तो भागवत पढना चाहिए। भागवत का अध्ययन करना चाहिए कि अनुभव होता कैसा है। जिसको रस-रस-रस कहा जा रहा है, है कैसा रस श्रीकृष्ण ? किस प्रकार है ? जो सुदामा के साथ इतना सामान्य हो सकता है कि कहे मित्र उस वर्षा की रात्रि मे, एक दूसरे की बाह थामे हम रात को नकारते रहे। इतना

सामान्य हो सकता है उसको समझना है, जो इतना निष्ठुर हो सकता है, जो किसी को होता ही नही, जो न सगी मा का न पालने वाली मा का नही होता। और इतना प्यार बटोरता है। है क्या यह चीज ? किस प्रकार का भाव किस प्रकार का सत्य है जो हाथ मे आ करके चला जाता है। हाथ मे रहता नही। ऐसा दुर्लभ और ऐसा सुलभ, यह क्या व्यापार है ? यह समझना अपने आप उस रस की प्राप्ति कराएगा। इस ससार में जो विशाल जीवन है उसका भी यही सच है। लगता कि बिल्कुल हमारे हाथ मे है दूसरे के हाथ में है ही नही और लगता है हमारे हाथ मे भी नही है। दूसरे क्षण मे लगता है हमारे हाथ मे नही यह निरतर वंचित होना और निरतर वंचित होने पर भी उसी के लिए अभिमुख होना निरतर हारना, निरंतर जीवन को ललकारना यही श्रीकृष्ण का रस है। मैं यही अपनी बात समाप्त करता हूं।

यह गगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ मे दिये गये व्याख्यान का लिपिबद्ध रूप है।

4

भारतीय साहित्य में अध्यात्म

अध्यात्म और आध्यात्मिक कुछ बहुत ही अजूबा शब्द हो गये हैं, उनको गलत शिक्षा के अभ्यास ने कुछ अलभ्य पदार्थ बना दिया है। जब अलभ्य मिलता नही, इसलिए अध्यात्म पाखण्ड हो जाता है और वही वह हो गया है। श्रीभागवत महापुराण मे कलि वर्णन के प्रसंग में कहा गया है 'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव' अर्थात् कलि की एक विशेषता यह भी है, जैसे लडके फाल्गुन में गली-गली पिचकारी लिए मिल जाते है, आजकल तो रंगों के बम लिए भी वैसे ही कलियुग मे जगह-जगह वेदान्ती उपदेश के बम लिए घूमते फिरते दिखाई पड़ते हैं। अध्यात्म अब बिकने लगा है। इसलिए अध्यात्म की बात, वह भी साहित्य के अधिष्ठान में अध्यात्म की बात करने के पहले कुछ बातें स्पष्ट कर लेना उचित समझता हूं। पहली बात यह है अध्यात्म है क्या ! श्रीमद्भगवत् गीता मे इसकी स्पष्ट परिभाषा यो कही गयी है :

> अक्षरं ब्रह्म परम स्वभावोऽध्यात्मुच्यते।
> भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञिता ।
> अधिभूत क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
> अधियज्ञोहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ (8/304)

अक्षर अव्यक्त ब्रह्म का स्वभाव ही अध्यात्म है। क्षर भाव ही अधिभूत है और विराट् पुरुष ही अधिदैवत है, लीलामय सगुण अवतार ही अधियज्ञ है जो देहधारियों की देह मे अवस्थित है।

इस प्रकार अध्यात्म सारी सृष्टि मे ओतप्रोत है, वह समष्टि चैतन्य का सर्वप्रवाही और अखण्ड स्वभाव है, वह जीवन की प्रेरणा है, वही जीवन की चरम विश्रान्ति है। वह अधिभूत, अधिदैवत और अधियज्ञ सबको एक सूत्र को जोड़े हुए है। इस पाचभौतिक देह, इस पाचभौतिक जगत् से बाहर या अलग कोई अध्यात्म नही है। यदि है तो वह क्षर है, असत् है। क्षर अधिभूत के भीतर ही अक्षर ब्रह्म

है। क्षर अक्षर की व्यक्तावस्था है, अधिदैवत व्यक्ताव्यक्त अवस्था है और अधियज्ञ अधिभूत और अधिदैवत की सयुक्त अवस्था है। अक्षर का स्वभाव और क्या होगा सिवाय इसके कि क्षर होकर अक्षर को ग्रहण करने के लिए अकुलाना और पुन. क्षर से अक्षर होकर क्षर के भाव के लिए अकुलाना।

अध्यात्म कोई जड अवस्था नही है, अन्यथा उसे भाव नही कहा जाता, स्थिति या सत्ता कहा जाता, पर वह स्वभाव है, अद्वितीय अनन्य भाव है, ऐसा भाव जो ब्रह्म मे ही होना सभव है। भारतीय साहित्य-दर्शन-कला सर्वत्र यही भाव आराध्य है। सबमे माध्यम चाहे अलग हो, पर सबमे आधार या आलम्बन वाचिक या श्रौत है, सबमे प्राणो के वाचिक रूपान्तर का और उस वाचिक प्राणवत्ता के तरंगवाही ऊर्जासंसार का ही ध्यान विशेष रूप से रखा जाता है, वहां किसी की हेयता नही है, किसी की ऐकान्तिक उपादेयता नही है।

देह अपार्थ या अशुचि नही, केवल इसलिए कि भगुर है। उन प्रस्थानो मे भी वहां निर्जर तप पर बल है या देह को शव के रूप मे देखते हुए विचरण पर बल है, क्षणभगुर देह की आकर्षकता ही पृष्ठभूमि है, अजंता की भित्तिचित्रावली शान्ति की खोज इसी देह की विविध भगिमाओ के बिना नही कर पाती, अश्वघोष का सौन्दरनन्द सुन्दरी की स्मृति मे आविद्ध होकर ही बुद्ध की ओर मुडता है। देह की भूमिका एक प्रकार से श्रमण प्रस्थानो मे और अधिक महत्वपूर्ण है, वहा देह कही अधिक लुभावनी है। पूरे भारत के वाङ्मय मे अध्यात्म और अधिभूत को साथ लेकर चलने के प्रवृत्ति मे सबमे अधिक सहायक दो धारायें हुई हैं, एक तो सभी अनुशासनो को मान्य योगसाधना, जिसमे देह के भीतर सक्रिय प्राणों को समीकृत करने पर और मन वाक् काय को समीकृत करने पर बल है, दूसरी ओर उपासना क्रम, जिसमे विविध उपचारो के द्वारा सभी प्रकार के द्रव्यो और भावो को एक साथ विनियोजित करके आराध्य और आराधक के बीच ऐक्य स्थापित किया जाता है। जल के रूप मे जलतत्व और गध के रूप मे पृथिवीतत्व, पुष्प के रूप मे आकाशतत्व, धूप के रूप मे वायुतत्व, दीप के रूप मे तेजस्तत्व और नैवेद्य के रूप मे जीवतत्व या पुद्गलतत्व समर्पित होकर पृथिवी आदि पचभूतो की समष्टि मे अनुस्यूत परमार्थतत्व को। एक तीसरा कारण भी है और उसकी ओर ध्यान सबसे अधिक मध्ययुगीन साहित्य का गया है, वह है नामतत्व, हमारी परम्परा वाक्परम्परा है, वह वाक् मे ही कई स्तरो मे मूर्त और अमूर्त की विविध अवस्था मे दीखती है। चाहे प्रणव हो, चाहे विविध बीज हो, चाहे नाम हो, सबमे ध्यान को एकाग्र करने तथा अनेक मूर्त आकारो को अमूर्त रूप मे समाकृष्ट करने की क्षमता मे इतना विश्वास अन्य विचारधाराओ मे अन्य मात्रा में नही है, थोडा बहुत तो सबमे है। हमारे मिथकीय आख्यान दैहिक और आत्मिक के बीच भेद नही करते, इसलिए घोर शुचिवादियता के आग्रही लोगो को कुछ निर्नैतिक और

अनैतिक भी लगते हैं, पर वास्तविकता यह है वे अधिक अखण्ड हैं, वे विभाजनवादी वही है, वहां स्पिरिट और मैटर दो पदार्थ नही। हमे विराट् सत्ता भी देह के रूप मे दिखती है, जिसमे आकाश शीर्ष हो जाता है, अन्तरिक्ष नाभि, पैर पृथिवी, सूर्य आंख, चद्रमा मन, वायु कान और अग्नि मुह हो जाते हैं। साथ ही देह भी लघु ब्रह्मांड के रूप मे दिखती है, एक एक अग मे, एक एक नाड़ी में, एक न एक देवता, एक न एक पाचभौतिक तत्व, एक न एक तन्मात्रा, एक न एक नक्षत्र, विद्यमान हैं, अनेक लोक है ऊपर से नीचे तक। इसलिए देह व्यापार हो, यज्ञ व्यापार हो, उपासना व्यापार हो, ध्यान हो, या शब्द व्यापार हो, सर्वत्र एक ही तरह स्थूल और सूक्ष्म के बीच, लघु और विराट् के बीच एक ही सहदृश्यता का भाव है, आनन्दकुमार स्वामी के शब्दो मे कानविजिविलिटी का भाव है।

कालिदास जब पार्वती के सौदर्य का वर्णन करते है तो उन्हे सर्वोपमाद्रव्य समुच्चय की वात सूझती है, उसका अर्थ यही है कि सौदर्य के जितने उपमान हो सकते है, उन सवके साथ पार्वती को सहदृश्य बनाकर विधाता ने देखा तब रचा, नैसर्गिक रचनाओ और कृत रचनाओ को समंजस करके देखा तब पार्वती की सृष्टि की :

उन्मीलित तूलिकयेव चित्रं
सूर्यांशुभिभिन्नमिवारविन्दम्।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि
वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥

जैसे तूलिका चित्र को उभार देती है जैसे रविकिरणे कमल के मुकुल खोल देती है और उसको विकास की पूर्णता प्राप्त करा देती है, वैसे ही चारो कोनो से दुरुस्त स्थापत्य की तरह पार्वती की देह यौवन की सक्रिय भूमिका के कारण यकायक विशेष रूप से पूरी तरह प्रस्फुटित हो गई। देह के भीतर सौंदर्य की पूर्ण अभिव्यक्ति अचेत व्यापार नही है, यह परम चैतन्य का स्फुरण है, उसकी षोडशी कला का उन्मीलन है।

छान्दोग्य उपनिषद् मे इस देह की भूख प्यास, रमने की इच्छा, इनकी पूर्ति, इनकी पूर्ति का अनुभव यह सब जीवन यज्ञ के अलग सोपान है। इसी को सर्वमय बनाने से ही चरम मूल्य सधते हैं। यह प्रसंग इसलिए भी विशेषत: उल्लेखनीय है कि यह भी श्रीकृष्ण के गीतामृत का बीज है। देवकीपुत्र श्रीकृष्ण को आंगिरस ने उपदेश दिया कि इस जीवन को यज्ञ अनुष्ठान के रूप मे ग्रहण करो। अपने भीतर भावना करो कि जब भूख लगती है, अकेलापन लगता है तुम जीवन यज्ञ की दीक्षा ले रहे हो, क्योकि तव तुम सबके भूख प्यास एकाकीपन के साथ अपने को जोड़ रहे होगे। जब खाते हो, पीते हो, रम रहे हो तो जानो कि तुम शस्त्र मत्रो के उच्चारण के साथ जीवनयज्ञ वेदी के पास पहुंच रहे हो, क्योकि तव तुम पूरी सृष्टि

की तृप्ति की वात सोच रहे होगे। जव तुम खा चुकते हो, रम चुकते हो, तव भावना करो तुमने अन्तिम आहुति वषट्कार के साथ दे दी है, तव तुम सवमे प्रविष्ट हो चुके होगे। और यह सव सम्पन्न करके जव स्नान करोगे तो समझो यही जीवनयज्ञ की सम्पन्नता के वाद अवभृथ स्नान है, नये यज्ञस्थल मे प्रवेश करने के लिए ही मृत्यु का निमंत्रण और सन्तरण है। श्रीकृष्ण ने यही सूत्र ग्रहण किया और इस यज्ञ को अवियज्ञ कहा गीता मे।

एक दूसरा प्रसग भी छान्दोग्य उपनिषद् मे ऐतरेय महीदास का है जहां जीवन की तीन अवस्थायें, शैशव यौवन और उत्तरकाल क्रमश: सोम के प्रात: माध्यन्दिन और साय सवन हैं, यह भावना करने को कहा गया है। सवन अर्थात् निचोड़ना। अपने जीवन को निचोडते जाओ और उसके रस को सवका पेय और आस्वाद्य बनाओ, तुम निश्चय ही असली सोमपीथी होगे। कवीर इसी को काल निचोड़ि के अमृत पीवैं के रूप मे प्रस्तुत करते है। एक ही देह मे अन्न और अन्नाद (अन्नभक्षक) की भावना ही तो भंगुर देह का अमृतत्व है। जिस सस्कृति मे समग्र भाव ही प्रमुख भाव होता है, वहा एक दूसरे के विना अधूरापन दिखायी पड़ना और इस अधूरेपन से आकुल होना अत्यन्त सहज और स्वाभाविक है। चाहे वोधिसत्व होने की अपरिहार्यता, चाहे अवतार होने की विवशता, चाहे सिद्ध के वाद भी नये सिरे से साधक होने के लिए नया कलेवर लेने की आकाक्षा, चाहे पेड़ के पत्ते झारकर नये पत्तो से भरने की वासन्ती प्रसन्न पीड़ा, चाहे यजमान के रूप मे या चाहे साधक के रूप में अपना सीस उतार कर, अपना अहकार तोड़कर अपना विशेष साधरणीकृत करके या अपने समस्त अनुभव को निष्पीडित करके अपूर्व रच करके चैन पाने की निष्कृति यह सव इसी समग्र भाव का अलग-अलग विवर्तन है। दूसरे शब्दो मे यही तो क्षर का अक्षरीकरण है। जितने भी हो चुके हैं, जितने भी अलग-अलग प्रतीत होने लगे है, जितने भी भूत वन चुके है, सिद्ध पदार्थ से लगने लगे हैं, उन सवमे एक ही भाव देखना सही रूप मे देखना है, वही सही और समूचा अनुभव है, वही सात्विक ज्ञान है :

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते
अविभक्त विभक्तेषु ज्ञानं तद्विद्धि सात्विकम् ॥

पर एक वात है, यह भाव कभी चुकता नही है, भाव का चलते रहना ही अध्यात्म है। भारतीय साहित्य के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो यह लगता है, बीच-बीच मे कुछ व्यवसाय और सशय जरूर उपस्थित हुए हैं, पर उसका मूल स्वर सम्पूर्ण जीवन के सौंदर्य का गायक स्वर है। इसलिए मनुष्य और प्रकृति के बीच द्रष्टा दृश्य सम्बन्ध न होकर विम्ब प्रतिविम्व की ही प्रधानता दिखायी पड़ती है। कालिदास की उर्वशी लता वनती है, लता उर्वशी हो जाती है या वाणभट्ट का पुण्डरीक वैशम्पायन शुक हो जाता है, लक्ष्मी मातंग कन्या हो जाती है, या लोक-

मानस में चन्द्रमा खिलौना बन जाता है, भाई सूरज बन जाता है, यह सब इसी संबध के अनेक प्रकार हैं। प्रकृति के साथ रहना अपने ही भीतर के भावो के साथ रहना है, भयकातर मृगी की चचल आखों मे सीता का अपना ही त्रास कांप रहा है,

त्रस्तैकहायन कुरग विलोलदृष्टेः

लताओ वृक्षो मे नये वसन्त मे नये फूल आने पर अपना ही उत्सव लगता है :

आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः

मुरलीरव से अपने प्राणो का स्पन्दन एकदम स्थगित हो जाना ही आकुल नदी की यकायक स्थिरता प्रतीत होती हैं, अपने भीतर मे बहने वाली प्राणनाड़ी ही यमुना हो जाती है :

नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीत
—मावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः
आलिगन स्थगितर्मिमुजैर्मुरारे—
गृह्णन्ति पावकमल कमलोपहाराः ॥

सौंदर्यलहरी मे पराशक्ति के सौंदर्य का चित्र खीचते हुए आद्य शकराचार्य ने उनकी माग मे सिंदूर की रेखा का सौंदर्य निरूपित करते हुए विराट् विम्ब उपस्थित किया है—यह सिंदूर रेखा उदयकालीन सूर्य की अशुमाला है, जिसे विराट् अधकार ने केशों के विपुल लहराव ने अपनी घनी नीली-नीली दीप्तियो के भीतर बंदी बना कर रखा है :

वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर।
त्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम्।

यहा भी घने चिकने केशों के बीच सिंदूर की दीप्ति विराट् सृष्टि के व्यापार के साथ समीकृत होकर सौदर्य की समग्रता का ही निदर्शन प्रस्तुत करती है।

भारत के भक्ति साहित्य में कुछ भी निरा भौतिक या निरा लौकिक नही है, जैसे इसके पुराने काव्य मे, विशेषतः वैदिक काव्य मे कोई निरा दिव्य, अलौकिक या आध्यात्मिक नही है, न यज्ञ मे न भक्ति मे कोई भी अनुष्ठान ऐसा है जो निरा भौतिक हो या निरा आध्यात्मिक हो, जो प्रत्यक्ष है, वही परोक्ष भी है, जो परोक्ष है वह उतना ही प्रत्यक्ष है। यज्ञ मे प्रत्येक कार्य के प्रतीक चिन्तन में ही मत्र के पूरे अर्थ की व्याप्ति समझ मे आती है, इसलिए यज्ञवेदी की तैयारी से लेकर अतिम आहुति तक सभी कार्य प्रथम सृष्टि के पुनरुत्पादन के रूप मे देखे जाते हैं, दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक क्षण भी उसी प्रकार के यज्ञ के रूप मे देखे जाते हैं। यही बात गोपी के दैनन्दिन कार्य मे दिखायी पडती है, दूध दुहना, दही जमाना, दही बिलोना, बच्चे को उबटन लगाना, अनाज कूटना, बनाना, रोना-गाना-हंसना प्रत्येक कार्य मे गोविन्द की लीला का गान चलता रहता है और प्रत्येक कार्य गोविन्द की लीला

से संचरित होकर कुशलतर हो जाता है, ऐसे कार्य के साथ जुड़ा हुआ चित्त गोविन्द जैसे विराट् व्यापक पुरुष के लिए वाहन बन जाता है। इस अनुभव में वाणी आंसू बन जाती है, पर कंठ से ऊपर नही आती और चित्त श्रीकृष्ण में रंगकर अपना नही रह जाता, बस श्रीकृष्णार्थ हो जाता है :

या दोहनेवहनने मृसलोपधात
प्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोश्रुकण्ठ्यो
धन्याः व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना. ॥

इसी रूप में सहज अध्यात्म इस मध्ययुगीन साहित्य मे मिलता है। निर्गुण भक्ति साहित्य भी लोक के भीतर ही विहरता है, लोकयात्रा की उपेक्षा नही करता, वह अपने को पानी बनाकर प्रभु का चन्दन घिसने के लिए आर्द्र कर देता है, पुराने-धुराने कपड़े की बाती बनाकर प्रभु के दीप की ज्योति का आलम्बन बन जाता है, प्रभु की मणि को धारणीय बनाने के लिए मामूली सूत का धागा बन जाता है। कबीर को भी सांसारिक कर्म हेय नही लगते, इन्ही कर्मों मे तो अध्यात्म है, बस भावना की धारा के कर्म को डाल देना चाहिए, हरि दही हो जायेंगे और दही का बिलोना 'हरि का बिलोवना' हो जायेगा, भक्ति सूत हो जायेगी और वस्त्र बुनना बन जायेगा असीम का अत्यन्त अछोर अनुभव।

पर एक मोड़ ऐसा आया हमारे इतिहास मे, हमने भ्रमवश उसे कहा पुनर्जागरण काल, जब हमने अपनी समग्र दृष्टि विचित्र दबाव मे खंडित की। वह दबाव था कुछ ऐसा होने का, जो हम हो ही नही सकते थे, जो होना न हमारे हित मे है, न उसके हित मे जो हम होना चाहते रहे। वह दबाव दूसरे शब्दो मे था प्रबुद्ध कहलाने का, अग्रगामी कहलाने का और आधुनिक तर्कजीवी कहलाने का। हमने वह सब महत्वहीन मानना शुरू किया जिसे मूल पाप से संसक्त माना था मसीही चिंतन ने, हमने अपने प्राचीन चिंतन से तथाकथित आध्यात्मिक अंश अलग करना शुरू किया। क्योंकि वही केवल हमे उपादेय लगा। इसलिए वैदिक कर्मकांड टटघट लगने लगा, षोडशोपचार पूजन का सौष्ठव व्यर्थ का जंजाल हो गया, पुराण गप्प हो गये, भारतीय कलायें पतनोन्मुखी दिखने लगी। एक तरह से हमारे नीचे की जमीन खिसकने लगी। तभी से हम कुछ ज्यादा आध्यात्मिक हो गये और विश्व भर की अध्यात्म चेतना के उपदेष्टा हो गये। अपना कर्मकौशल दास हो गया व्यावसायिक कर्मकौशल का। राजनीतिक और आर्थिक पराधीनता का समाधान हमे अतीत के अतिरिक्त मोह और वेदांत ज्ञान के अतिरिक्त अभिमान को जनम देता है। इसी अतिरिक्त आध्यात्मिकता के शमन पर बल देते हुए परमहंस रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानंद ने कर्म ज्ञान और भक्ति के समन्वय पर बल दिया और पश्चिम जगत् के उद्योग प्रधान जीवन को अपनाते हुए उसी मे अध्यात्म भाव भरने के ऊपर

वल दिया। बाद में आनंदकुमार स्वामी जैसे कलाद्रष्टा ऋषिकल्प विद्वानो ने भारतीय कला की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए अध्यात्म तत्त्व का समग्र रूप प्रस्तुत किया।

परन्तु अध्यात्म का नशा कम न हुआ और जो प्रस्तुत है, जो जीवन रस बहा जा चला रहा है, उसकी उपेक्षा करके अप्रस्तुत की अतिरिक्त चिंता,या चिंता का अधिकतर स्वांग कम नही हुआ, न कम हुआ छूंछी नैतिकता का वह बानक, जिसने जयदेव, विद्यापति और सूर तक के शृंगारी स्थलो को उपेक्षणीय माना, क्योकि उन्हे-यह स्थल स्थूल उत्तान विषयभोग के स्थल लगे। इस शती की अध्यात्मशिक्षा देने वाली संस्थाओ ने रासपचाध्यायी की क्षमायाचना स्वर मे व्याख्या प्रस्तुत की, श्रीकृष्ण तो ग्यारह बारह वर्ष के थे, इससे भी नही काम चला तो कहा गया कि गोपियां तो इन्द्रियगण हैं, वे स्त्रिया नही हैं। पर परम्परा के पारखी स्वामी करपात्री जी ने इस रासपचाध्यायी की व्याख्या मे कहा कि श्रीकृष्ण पूर्णपुरुष हैं और उनका यह रास समस्त ऐन्द्रियता, समस्त रसात्मकता, समस्त चित्तमंथन के साथ समवेत है, देह के धर्म का पूर्ण स्वीकार है, पर उस पूर्ण धर्म का ही अग है आत्मानुभूति। तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ परशुरामकल्पसूत्र मे यह कहा गया है कि .

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तद्धि देहे व्यवस्थितम्।

आनन्द ब्रह्म का रूप है, वह इस देह मे ही अवस्थित रहता है। इस देह मे त्रैलोक्य की स्थिति रहती है और इस देह को कामकला से जोड़े विना परा संवित् का अर्चन नही किया जा सकता। यह कामकला वस्तुत. सत् और असत् को जोडने वाला सेतु है, यह विराट इच्छा का बहुत ही भयंकर आंच वाला ताप है। यह मनस्तत्व का उदय है यह 'सतो बधुमसति निरवन्दन्'(अर्थात् असत् मे सत् द्वारा बधुता की खोज)है। असत् या क्षणिक सत् का ही रूप है, बौद्धो का क्षणिक और परमार्थ शून्य भी अद्वय हैं।

अध्यात्म के अतिरजित का निषेध दो रूपो मे हुआ, एक तो अधिभौतिक के ऐकातिक स्वीकार मे, दूसरे अध्याय की एक-एक से एक उल्टी-पुल्टी व्याख्या मे। साहित्य मे इसका प्रतिबिम्बन प्रत्यक्ष है, पर उस साहित्य ने भी कली लेना प्रारंभ किया है जो रामतीर्थ पूर्णसिह, महादेवी, प्रसाद, हजारीप्रसाद द्विवेदी, अज्ञेय की परपरा मे सहज और दुरावहीन सामान्य जन्म के श्रम मे और उसके उचित सम्मान मे समरसता खोज रहा है, वह सयम का पूरा निर्वाह करते हुए सबके शिव की सबके सुख-दु.ख के ज्ञान से उदित होने वाली आनन्द की भूमिका को समझना शुरू कर रहा है।

कामायनी के अन्तिम सर्ग मे यही परिदृश्य है—

देखो कि यहा पर कोई नही पराया।
हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमी हैं

तुम सब मेरे अवयव हो जिसमे कुछ नही कमी है।
शोषित न यहा है कोई तापित पापी न यहा है
जीवन वसुधा समतल है, समरस है जो कि जहां है।"

पर पूर्ण प्रस्फुटन तो तभी होगा जब पुनर्जागरण की वास्तविक और तीव्र आकाक्षा होगी, वह अभी नही है क्योकि उपभोक्ता भाव मे अभी अभिवृद्धि ही हो रही है, जो कुछ उपभोक्ता अपसस्कृति का नारा है, वह सतही या कागजी है। कोई भी भोग जीवन रस का परिणाम नही है, न जीवन रस का परिमाण भोग के निरतिशय दमन की मात्रा है, क्योकि वहां आत्मप्रचार के साथ अपने आप सग्रह का लोभ है, भोग न भी हो। सच्चा अध्यात्म तो सहज जीवन के पूर्ण दर्शन से आयेगा, अभी हम सहज जीवन जीने वालो के आश्रयदाता हैं, उस जीवन के वरण करने का साहस नही रखते, जो साहस रखते भी हैं, वे केवल प्रयोग के रूप मे करते हैं, प्रयोग करने वाला भाव आविष्ट भाव नही होता, उसमे तादात्म्य नही होता, बल्कि प्रवचक ताटस्थ्य होता है। अध्यात्म अपने आप मे तभी सार्थक होगा, जब उसमे सिसृक्षा हो, वही जडबद्ध न रहना, कुछ और होना है, इसके लिए चिन्ता हो। भारत के बीसवी शती के अधिकाश आध्यात्मिक कहे जाने वाले साहित्य मे ठहराव है, सिसृक्षा नही है, सिसृक्षा का ताप झेलने की क्षमता कही सोयी हुई है। वह अपने अखड जातीय व्यक्तित्व की पहचान का आह्वान कर रही है जरूर पर आह्वान का स्वर क्षीण है।

भारतीय ज्ञानपीठ की सगोष्ठी मे दिया गया वक्तव्य।

5

देश की पहचान

स्वर्गीय माणिक्यलाल वर्मा की स्मृति मे स्थापित श्रमजीवी महाविद्यालय के आचार्य, अध्यापक बधु, छात्र बधु, बाहर से और देश के भी बाहर के, प्राथमिक शिक्षा, से (जोकि समस्त शिक्षा की जड़ है।) सबद्ध तपे हुए अध्यापक और उदयपुर नगरी के प्रबुद्ध, चितक, विचारक और बुद्धिजीवी वर्ग इन सबके बीच में अपने को पाकर के एक विचित्र मनःस्थिति का अनुभव करता हू। बारह वर्षों बाद उदयपुर आना हुआ है। काफी कुछ बदल गया है और उदयपुर ही नही बदला है पूरा देश बहुत बदल गया है। इस माने मे बदल गया है कि देश एक अप्रासगिक शब्द हो गया है। देश की बात करने से लोग घबराते हैं। प्रदेश ऊपर हो गया है। ऐसा लगता है 'ज्योति मय यह देश हमारा" जो गीत आपने प्रारभ मे गाया वह किसी स्वप्न मे गाया गया था। वह आज हमारे सामने से ओझल हो गया है और उसकी स्मृति है जिन लोगो को, जिन लोगो ने 1947 के पहले एक ज्वार देखा है उनके लिए यह स्मृति बडी कटकित स्मृति है, बहुत सालती है।

यह सब क्यो हुआ है कौन सा देश हमारे दिमाग मे था, कौन सा देश हमारे मन के ऊपर घटाटोप की घटा की तरह से छाया हुआ था और कौन सा देश हमारे सामने आज है।

एक वर्ष पूर्व खडवा में स्वर्गीय माखनलाल चतुर्वेदी की स्मृति मे एक समारोह हुआ। वहा यह कहा गया कि आज के सदर्भ में माखनलाल चतुर्वेदी अप्रासगिक हो गये हैं। मैंने जब वक्तव्य सुना तो मुझे लगा कि अब माखनलाल चतुर्वेदी अप्रासगिक न हो गये है, वे सभी लोग आज अप्रासगिक अयथार्थ और रूमानी हो गये हैं जिन्होने देश के साथ अपने को जोडा और जिन्होने एक ऐसे स्वराज्य की कल्पना की थी जिसमें सबकी साझेदारी होती, जिसमे महल नही होते, कुटी मे प्रधानमत्री रहता। सचमुच वे सभी लोग अप्रासगिक हो गये हैं, शायद वे लोग भी जिन्होने एक राष्ट्रीय शिक्षा की नीव डाली चाहे गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर हों, महात्मागाधी

हो, उनके पीछे चलने वाले बहुत सारे लोग जिनमे स्वर्गीय श्री शिवप्रसाद गुप्त उनमे भी पहले के स्वामी श्रद्धानदजी जिन्होने इस प्रकार की कल्पना की कि एक अपनी जमीन से, अपनी रत्नगर्भा धरित्री से आयी हुई विचारधारा है और उसको शिक्षा मे स्थान नही मिलेगा और एक अपनी भाषा है, अपनी एक अभिव्यक्ति है, सोचने का एक तरीका है उसको स्थान नही मिलेगा तो यह शिक्षा क्या होगी ! आकाश-बौर होगी, उसमे जड ही नही होगी, पनपेगी, पसरेगी, सूख जायेगी यह टिकेगी कहा ! घनी कहा से होगी ! एक बार पसरेगी, बहुत पसरेगी ऐसी पसरेगी कि सबको ढक लेगी। पेड को ढककर सुखा देगी, खुद भी सूख जायेगी। ये सारे शिक्षा के केन्द्र आज उदास हैं और ऐसी स्थिति मे उस जमाने का ज्वार अनुभव किये हुए आपके सामने ऐसे मन को कई भागो मे विभक्त करने वाले विषय पर ही बोलते समय बडा सकोच होता है। कितने लोग हैं आपमे से जो बटायेंगे, यह पीड़ा, यह दर्द। कितने लोग हमारी पीढ़ी के हैं और गुरुजन हैं, हम से अधिक उम्र के है —यह फिर से सोचने की कोशिश करेंगे कि हम लोगो ने कही पहले ही तो रास्ता गलत नही चुन लिया था। क्या कमी थी हमारी स्वाधीनता की अवधारणा मे, स्वाधीनता की परिकल्पना मे कि 36 वर्षों के भीतर देश जैसा वैचारिक दृष्टि से पराधीन हुआ उतना सदियो की गुलामी मे नही हुआ था। क्या कारण है कि 1947 के पहले जो आदमी पूरी शिक्षा एम० ए० तक अग्रेजी मे ग्रहण करता था, अग्रेजी को परायी भाषा मानता था और अपनी स्वाधीनता का परिचय अपनी ही भाषा के माध्यम से करता था तथा हिन्दी के माध्यम से करता था और उसे यह अनुभव होता था कि स्वाधीन होने के लिए हमारी अपनी भाषा आवश्यक है। और आज ! हिन्दी मे सोचना, हिन्दी मे बोलना हिन्दी के बारे मे कहना एक भय हो गया है। इससे देश प्रभावित होता है। हिन्दी की बात करोगे तो देश की एकता टूटेगी। जो एकता का सूत्र रहा, जो स्वाधीनता का एक मंत्र रहा, उसकी बात करोगे तो देश टूटेगा। यह स्थिति आयी तो कौन सी खोट थी हम लोगो के चितन मे। इसके ऊपर हमारे गुरुजन, हम से अधिक वय के लोग गहराई से विचार करेंगे उन्हे मैं निमत्रित करता हू।

जब पूर्व उल्लिखित गीत गाया जा रहा था तो बहुत-सी गूजें मेरे मन मे आ रही थी, एक साथ और अगर उनको एक क्रम से आपके सामने रखना शुरू कर कि गाधीजी ने हिंदुस्तान की राजनीति के लिए एक बाइबिल बनायी थी—हिन्द-स्वराज्य। शायद राजनीति के विद्यार्थी भी उसका नाम आज नही जानते होगे। लेकिन आज की जो परिस्थिति है मनुष्यमात्र की, विश्वमात्र की परिस्थिति है उसमे जिस विकेन्द्रीकरण की आवश्यकता है, शक्ति के विकिरण की आवश्यकता है, जिस प्रकार की एक त्यागवृत्ति की आवश्यकता है, उपभोक्ता सस्कृति के खडन की आवश्यकता है उस सबकी नीव हिंद स्वराज्य मे है और अगर हिंदुस्तान ही नही दुनिया

के अन्य देश भी उस नीति को नहीं समझेंगे तो सारी पृथ्वी बोझ हो जायेगी और मनुष्य के पास कुछ भी नहीं बचेगा। मनुष्य भी नही बचेगा।

अगर उपभोग की प्रतिस्पर्द्धा में हम अपने जीवन की गुणवत्ता का परिमापन इस रूप में करेंगे कि हम कितना उपभोग कर सकते हैं तो निश्चय ही हम बराबरी नही कर सकते। अकेले अमेरिका समस्त संसाधनों का लगभग चालीस प्रतिशत का उपभोग करता है जबकि अमेरिका की आबादी, संयुक्त राज्य अमेरिका की आबादी हमारी तिहाई है। और उसकी बराबरी करके हम एक सौ बीस प्रतिशत कहां से पायेंगे उपभोग करने के लिए, कहां है उपभोग करने के लिए सामग्री, कहा है ऊर्जा, कहा है अनाज, कहां है ऐशोइशरत का सामान, कहां है पानी, कहां है इतनी हवा। साधारण वस्तुएं भी कहां हैं जितनी इफरात मे अमेरिका उपभोग करता है, अमेरिका का नागरिक उपभोग करता है। उत्तरी अमरीका के उपभोग के स्तर तक अपने को पहुंचाना समस्त विश्व को नाश के कगार पर पहुंचाना है तो निश्चय ही कही मुडना होगा—उपभोग की मात्रा मे कमी करनी होगी, कही सोचना होगा कि आवश्यकता अपनी ही नही होती है सबकी आवश्यकता अपनी आवश्यकता होती है।

हम जिस बिंदु से बात शुरू करना चाहते हैं वह बिंदु यह नही है। लेकिन मैंने कहा कि आज हमे गहराई से सोचना चाहिए कि कहा हमसे गलती हुई और मै इस पर जब एक तटस्थ संस्कृति के विद्यार्थी की दृष्टि से विचार करता हू तो लगता है कि यह खोट 19वी शताब्दी के प्रारंभ में या 18वी शताब्दी के अंत मे शुरू हो गयी थी जब पश्चिम का पहला प्रभाव पडा और पश्चिम के प्रभाव के साथ औद्योगीकरण का प्रभाव पडा। औद्योगीकरण के प्रभाव के साथ एक राष्ट्रीयता की कृत्रिम परिकल्पना का प्रभाव पड़ा है। तभी से हमारी मानसिकता बदली है, बहुत बदली है। उस देश की मानसिकता बदली जिसके लिए देश का अर्थ भूगोल नही था, देश का अर्थ इतिहास नही था, देश का अर्थ विचार, विचार की साझेदारी था। देश का अर्थ एक व्यापक बोध था। उस व्यापक बोध मे जो भी शरीक हो, जो भी साझीदार हो, उसको हम मानते थे कि हमारा है, हम उसके है। कम्बोजिया, जावा मंगोलिया, दूर मध्य एशिया के देश, ये सभी साझीदार हुए हमारे। सभी भारत के अधीन तो नही थे—न भारतीय मूल के लोग थे, सभी भिन्न मूलो के थे, भिन्न नस्लो के थे भिन्न प्राकृतिक परिवेशो के थे, लेकिन कही एक बिंदु पर उन्होने साझीदारी का अनुभव किया, उन्होने हमारी कथा ली, हमारी कहानी ली और अपनी प्रतिभा से उसे रचा। वही राम कथा, वही महाभारत की कथा पत्थर मे जिस रूप में अंकोरवाट मे, जिस रूप मे इंडोनेशिया के प्राम्बनम मे, अयोध्या मे थाइलैंड की द्वारावती में, अंकित है वह उनकी प्रतिभा है। कहानी हमारी थी, लेकिन रंग उनका था। वह साझेदारी भूगोल के आधार पर नही थी—वह

साझेदारी औपनिवेशिक इतिहास के आधार पर नहीं थी। हिंदुस्तान का कोई उपनिवेश नही बना। हिंदुस्तान ने कभी उपनिवेश नही बनाया। हिंदुस्तान की भावना कभी उपनिवेश बनाने की नही थी। वह साझेदारी शुद्धरूप से एक वैचारिक स्तर पर थी। और वैचारिक से अधिक एक भावनात्मक स्तर पर थी। जो लोग आज उसी मानसिकता से प्रेरित होकर के सोचते हैं—दर्प से स्फीत हो जाते हैं, दंभ से भर जाते हैं, छाती फुला देते है कि इस देश से सब लोग शिक्षा लेते थे हम लोग सब के गुरु रहे है वे जिस मिथ्या अहकार से ग्रस्त हैं वह इस देश का अहकार नही है। देने के लिए घमंड करने वाला यह देश नही था, लेने के लिए हाथ पसारने वाला यह देश था। बडा आदमी ही मुक्त हस्त लेता है, छोटा आदमी ले नही सकता। वामन हो करके ले लेकिन विराट लेता है, छोटा ले नही सकता ले भी ले तो पचा नही सकता। और हमने सबसे लिया है, मुक्त हस्त लिया है, और स्वीकार करके लिया है। हमने ग्रीस से लिया है और स्वीकारा कि ग्रीस के ये विद्वान, ये विज्ञान-वेत्ता ऋषियो की तरह पूज्य हैं। यह वराहमिहिर ने कहा ऋषियो की तरह इनकी पूजा करो। ज्ञान से बढ़कर पवित्र कोई कुछ नही होता। उस खुली विचारधारा के देश मे हमने एकसीमा बांधी, उसका एक इतिहास रचा। उस इतिहास के गौरव की परिधि बनायी, एक लक्ष्मण-रेखा बनायी कि, इस देश का अतीत बडा उज्ज्वल रहा है। हमने एक ऐसे देश की अवधारणा की जिसमे राजाओं की सूची थी और विचारको की सूची नही थी, विचारधारा की एक निरतरता नही थी। एक राजाओं की राजवशो की कतार थी और उस पर हमने गर्व किया। उसको देश की कल्पना का आधार बनाया जबकि इस देश की प्रकृति इतिहास को नकारने वाली, इतिहास का अतिक्रमण करने वाली, राजवशो को नगण्य करने वाली रही। इस देश की प्रकृति राम और कृष्ण को इतिहास पुरुष नही मानती थी जैसा कि हम सभी शिक्षित लोग मानते हैं, राम और कृष्ण को वर्तमान की सत्ता मानती थी, वर्तमान की उपस्थिति मानती थी अपने जीवन मे मौजूद मानती थी, अपने जीवन के प्रत्येक श्वास-प्रश्वास मे राम और कृष्ण को पाती थी और यह अनुभव करके अपने को बड़ा समझती थी कि हमारे राजा राम हैं और राजा राम की जय बोलते समय हमारी प्रकृति को लगता था कि कोई दूसरा राजा है नही, कोई दूसरी सत्ता है नही। कृष्ण के साथ जुड करके उसको लगता था कि हम ऐसे विराट्, व्यापक सौंदर्य के बीच मे विराज रहे है उसके आगे कोई चीज सुन्दर है ही नही। वे आंखें जल जाए जो उस सावरे रंग को छोड़ करके किसी दूसरे रग पर ध्यान देती हैं। इतना प्यार दिया श्रीकृष्ण को। अपने इस प्यार के कारण प्यार का महत्त्व समझा और यह भी समझा कि हम जिस व्यक्ति को जो प्यार देते हैं तो उसी की तरह से हमे साधारण होना पडेगा। उसी की तरह से साधारण वेष-भूषा का धारण, उसी की तरह से जंगल मे विचरण, उसी की तरह से गंवार लोगो के बीच में आत्मीयता की खोज

करना होगा तब इतना विश्व व्यापक सौदर्य हमारी समझ में आयेगा। श्रीकृष्ण भी इतिहास पुरुष नही थे। वे हैं, थे नहीं। वे थे, यह दृष्टि एक खडित दृष्टि से, पश्चिम से आयी हुई इतिहास दृष्टि से आयी जिसने हर एक की मूल्यवत्ता इससे आंकनी शुरू की कि अमुक चीज पहले हुई थी, इसलिए महत्वपूर्ण है। अश्वघोष कालिदास से पहले हुए इसलिए अश्वघोष बड़े कवि हो जायेगे। कालिदास अश्वघोष के बाद आयेंगे तो छोटे कवि हो जायेगे। यह चेतना ही बडी गडबड़ चेतना थी, कौन पहले आया, कौन बाद मे आया। इससे कौन छोटा-बडा होगा ! अरे, जिस देश ने यह भी सोचा-मिथक के रूप में सोचा कि विश्वनाथ के मन्दिर में सारी पुस्तके रखी गयी सबसे ऊपर वेद रखा गया लेकिन सवेरे पट खुला तो पता लगा कि रामचरितमानस सबसे ऊपर है, विकास का एक क्रम होता है, वेद सार्थक होता है रामचरितमानस बनकर के; इसलिए रामचरितमानस ऊपर आता है, यानि उससे वेद अप्रमाणित नहीं होता है, वेद प्रमाणित होता है रामचरितमानस बनकर। आगे बढ़कर सोचने वाले देश मे जाने क्यों इतिहास की बीमारी आ गयी।

इस देश ने इतना आगे जाने का सोचा था वह देश यकायक पीछे मुड़ा, पश्चात्पद हुआ और इसीलिए उसने जिस नेशन (Nation) की कल्पना की वह नेशन झूठ पर, प्रवंचना पर टिका हुआ था। इस नेशन की स्थापना एक प्रतिस्पर्द्धा मे हुई थी, एक धन की प्रतिस्पर्द्धा में हुई थी, व्यवसाय की प्रतिस्पर्द्धा मे हुई थी और उसका अन्त हुआ है दो-दो विश्वयुद्धों में। दो-दो विश्वयुद्धों के बाद पश्चिम ने गलती थोडी-थोडी समझी है। सब ने नही समझी है, शक्ति का मद गया नहीं है। लेकिन उसके सही आदमी ने समझी है कि कही बडी गलती थी नेशन की इस परि-कल्पना में—एक पेट्रिओटिज्म (नकली देशभक्ति की) ऐसी छोटी चीज लोगो के मन मे भरने में कही कोई खोट है। क्या होता है इस पेट्रिओटिज्म का मूल्य ! कुछ मूल्य है इसका, जो देशों को विभक्त कर दे, बाप को बेटे से अलग कर दे। जो भाई को बहन से अलग कर दे—इस पेट्रिओटिज्म का कोई अर्थ है। मनुष्य के जितने रिश्ते हैं उनको तोड़ करके करे कोई यह पेट्रिओटिज्म। है कोई ! इस मनुष्य से भी ऊपर कोई चीज ! वह पेट्रिओटिज्म पश्चिम ने अब समझना शुरू किया कि पूरी सच्चाई नही है, अधूरी सच्चाई है, इसी से गलत है।

हमने जब हिन्दुस्तान के बारे मे सोचा था तो उस जिस प्रभाव मे सोचा था उस प्रभाव के बारे मे मेरा भी विनम्र निवेदन है—एक पुन: चिन्तन की आवश्य-कता है। आप पुराणों में भारत की परिकल्पना पढिये। यह परिकल्पना आप पढेंगे तो ऐसा लगेगा कि भारत की कोई सीमा ही नही। कई द्वीपो मे एक द्वीप था जम्बूद्वीप। जम्बूद्वीप मे एक भारतवर्ष है। उसके कई नाम हैं। कई जनपद हैं। कई प्रदेश है। बहुत पुराने प्रदेश है। जब भारत नाम आता है तब तक इसका क्या अर्थ होता है। सबसे पहले वैदिक वाङ्मय मे भारत की व्युत्पत्ति मिलती है।

भरत अग्नि का उपासक देश। भरत के वंश मे उत्पन्न नही। भरत अग्नि के उपासक जो ऊर्जा सबका सभरण करती है उस ऊर्जा के उपासक, यह भारत। सबका संभरण करने का जो विचार करे वह भारत और हिन्दुस्तान के उन विचारको ने कभी वहुत्व की चिंता नही की, हमेशा सर्व की चिंता की। सर्व होकर के सर्व के बारे मे सोचते हुए अगर चलोगे तभी तुम देखोगे—'सर्वः सर्वं पश्यति। उपनिषदो मे आया है कि जो सबको सब होकर के देखता है वही देखता है और जो नही देखता है वह केवल मृत्यु को देखता है। उस दृष्टि से और उस वाक् सूक्त की दृष्टि से कि वाणी ने अपने को राष्ट्री कहा, उस राष्ट्री मे राज्य करने की बात नही, उस राष्ट्री मे लोगो को अनुरंजित करने की बात है, सब को जोड़ने की बात है, सबको सयोजित करने की बात है और पृथ्वी सूक्त की दृष्टि से जिसमे ऐसी भूमि की कल्पना है कि नाना धर्म के लोग, नाना वाणी के लोग, नाना भाषा के लोग तुम्हारी गोद मे लडते हैं, झगडते हैं लेकिन मा तुम सब को पालती हो, यह जो व्यापकता का अनुभव होता है, उसका नाम भारत है। और उस कल्पना को छोटा करके हमने एक भौगोलिक नाम भारत सोचा और यह कहा कि अंग्रेजो ने हिन्दुस्तान बनाया। अंग्रेज न आये होते तो हिन्दुस्तान तो टुकड़ो मे बटा होता। विचार भी टुकडो मे बंटता है। तीर्थ किसी राज्य के थे। गुरुद्वारे, मन्दिर, आचार्य किसी राज्य के थे। शंकराचार्य का कोई अपना प्रदेश था—जन्म के लिए रहा हो, कर्म के लिए कोई उनका कोई एक प्रदेश था, उनकी अपनी कोई अलग भाषा थी। इन सब दृष्टियो से पूरे इतिहास पर विचार करेंगे तो अनेक राजवंश हुए हैं, अनेक क्षेत्रीय परम्पराएं हुई हैं, लेकिन वे सब छोटी लगेंगी। उनकी ओर किसी ने ध्यान ही नही दिया है वे उदित हुए और अस्त हो गये। वे नही रहे। रहे कौन, रहे वे लोग जिन्होने सोचा मनुष्य ही नही, समस्त जीवन एक है, अखण्ड है और जो बाहर है, वही भीतर है। शरीर मे और अध्यात्म मे कोई अंतर नही है। इस शरीर मे ही अध्यात्म है। इस दृश्य जगत् मे ही अध्यात्म है। इस दृश्य जगत् के साथ मनुष्य के गहरे रागात्मक संबध मे ही अध्यात्म है, मनुष्य और मनुष्य के सबध मे अध्यात्म है। इससे अलग कुछ नही होता है भारत का अध्यात्म। उन लोगो ने देश को इस रूप मे सोचा था। प्रदेश थे, प्रदेशो की सत्ता भी थी उनकी रंगतें भी थी लेकिन सभी प्रदेश एक जगह से रस पाते थे। चाहे संस्कृत भाषा के कारण, कालान्तर मे प्राकृत के कारण, उसके बाद नागर अपभ्रंश के कारण, उसके बाद मध्य देश की भाषा के कारण जिसने आसेतु हिमाचल जोडा (जो भक्ति आंदोलन का संयोजक सूत्र बनी, नामदेव को जिसने शकरदेव से जोडा उस ब्रजभाषा के कारण) चाहे दूसरे पचीसो कारणो से, उन विचारको के कारण जिनके बारे मे यह पता करना मुश्किल है कि किस प्रांत मे जन्मे या चाहे एक गहरे स्तर के सनातन जीवन प्रवाह मे आस्था के कारण। कुमारिल भट्ट के ऊपर कौन तमिल

छाप है, रामानुजाचार्य के ऊपर कौन तमिल छाप है, चैतन्य-महाप्रभु पर कौन बंगला छाप है, वल्लभाचार्य पर कौन आंध्र की छाप है, कोई छाप है! गुरु गोविन्दसिंह पर कौन छाप है! कोई वता सकता है पंजाब की छाप लगी हुई है, उनके ऊपर, कोई छाप देख सकता है उनके ऊपर, ऐसे लोगों पर कोई छाप नहीं देख सकता है। जितने सत है, विचारक हैं और एक धार्मिक ज्वार के नेता हैं उनके ऊपर कोई छाप नही है। कबीर, गुरु नानक कोई भी हों उनके ऊपर कोई छाप नही है। सबै भूमि गोपाल की। कही किसी की जमीन नही है। ऐसे व्यापक देश को हम लोगों ने छोटा किया। हम लोगो ने, हमारे निकट के पूर्वजों ने छोटा किया। पर उस छुटपन को दूर करने का काम किया है पुनः गांधीजी ने। हम आज नही समझ सकते लेकिन गांधीजी जो विचार ले करके आये उस क्षुद्रता को दूर करने के लिए, उस छोटे देश की सीमा का विस्तार करने के लिए आये तो बहुत बडे टकराव के बाद आये। वे वर्ण भेद के खिलाफ जूझकर आये थे और आते ही उन्होने पहचाना कि देश की शक्ति यहां का पढा-लिखा आदमी नही है। यह उधार के विचार ओढ़ने वाला आदमी नही है। इस देश की शक्ति तो गांव का आदमी है जिसके हाथों कोई दूसरी चीज नही है, सिवाय रामचरितमानस के। वही नेतृत्व कर सकता है और उन्होने जो सबसे पहले ऊर्जा प्राप्त की वह चम्पारन के किसान से प्राप्त की। उन्होने पहचाना कि जिसके भरोसे हमने स्वाधीनता की परिकल्पना-पहले की उस पढे-लिखे मध्यवर्गीय वर्ग से कुछ नही होने वाला है उनके सहारे स्वाधीनता मिलेगी तो स्वाधीनता नही होगी पराधीनता से बदतर होगी। वह डोमेनियन स्तर की होगी। अगर स्वाधीनता लेनी है तो इनके बल पर लो, इन निरक्षरों के बल पर लो जिनका संस्कार शिक्षितो से, तथाकथित शिक्षितों से अधिक शिक्षित है क्योंकि बडी समृद्ध मौखिक परम्परा मे वे दीक्षित है। आनन्द कुमार स्वामी ने आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व लिखा-एक-चुनौती देते हुए। एक छोटी सी पुस्तक है उनकी, पश्चिम को चुनौती है—आर यू योर ब्रदर्स कीपर-तुम अपने को छोटे भाई का चौकीदार मानने लगे हो। क्या अधिकार है तुम्हे चौकीदार बनने का, बड़े उद्धार-कर्त्ता बने हो तुम। यह चुनौती है पश्चिम को जो सोचते हैं कि सबको हम लिटरेट साक्षर बनायेंगे। सबको सभ्य बनायेंगे। सबको सभ्यता का पाठ सुनायेंगे। उनको चुनौती आज से 50 वर्ष पूर्व एक पुस्तक में आनन्दकुमार स्वामी ने दी थी। और उन्होने उसी में एक उद्धरण दिया कि मैं कश्मीर में था और एक गड़रिया हाफिज का पूरा दीवान याद किये हुए था और यही नही उसका अर्थ भी बतला रहा था। किस कोडी की शिक्षा है यह, किस काम की शिक्षा है जो हमें अपने बारे मे कुछ नही बताती और वह शिक्षा कैसी है जो अनपढ़ आदमी को भी इतना संस्कार देती है कि हाफिज का चिंतन, इतने गहरे स्तर का चिंतन, उसको

समझा सकता है, उसको कण्ठस्थ है। कौन शिक्षा वह है और कौन शिक्षा यह है। कौन शिक्षा समर्थ है वह है कि यह है। गांधीजी ने समझा कि जो मूल शिक्षा है वह मूल से आनी चाहिए। लेकिन वह मूल शिक्षा चली कहां। मूल शिक्षा चर्खे के आचार तक सीमित हो गयी। चर्खे के रिचुअल (Ritual) तक सीमित हो गयी, अनुष्ठान तक सीमित हो गयी और हमारे सारे मंत्र केवल अनुष्ठान बन गये, केवल कर्मकांड बन गये। और देश भी एक कर्मकांड बन गया। संस्कृत भाषा एक कर्मकांड बन गयी। संस्कृत की बात जो लोग करते हैं—भारतीय संस्कृति की बात करते हैं वे ऐसे ही करते हैं जैसे उत्सव मे समझा जाता है जहा टीका कर दिया जाय तो भारतीय हो जायेगा। अरे, टीका न करे, आग लगे उस टीका को। अरे, मन से तो भारतीय होइये। मन से बडे होइये। एक बडे देश के बड़े उत्तराधिकारी होइये। अहंकार से बडे न होइये कि हम बडे देश के हैं कि हमने सबको सिखाया है, हमारे यहां से ज्ञान सब जगह गया है। यह अहंकार तोडने वाला है। देश को जोडने वाला नही है। वास्तविकता यह है कि हमने निरतर इसमे गौरव नही माना कि हम विजेता हैं, इसमें हमने ग्लानि नही मानी कि दूसरे आये। इसमे हमने प्रतिशोध की भावना से काम नही लिया कि महमूद गजनी आया, मुहम्मद गोरी आया, हम आज उसका बदला लें। हमने इस भाव से काम नही लिया। हमने उनके प्रति ऋण अदा किया जो सूफी सत थे जिन्होने हमारे साथ मिलकर के कुछ नयी चीज दी। एक मनुष्य को जोडने के लिए नया सूत्र दिया। एक प्रेम का सूत्र दिया। हमने उसको महत्व दिया। और उसको अपने बीच मे स्थापित किया। और वह व्यक्ति भी स्वयं प्रभावित होकर के इस रंग मे रग गया। रसखान, रहीम, जायसी क्यो इस रंग मे रगे-वह केवल इक तरफा नही था, दुतरफा था तभी रंगे। अभिमान रहता तो नही रग पाते। कही भी अभिमान नही था। इस प्रकार का दर्प, इस प्रकार का अहकार नही था। आज पूरे समीक्षा-संसार को पढ़ लीजिये आपको मिलेगा तुलसीदास हिन्दू धर्म के उद्धारक थे पर आप तुलसीदास की किसी पुस्तक से हिंदू शब्द निकाल लीजिए? कही हिंदू शब्द का उन्होंने व्यवहार नही किया वे हिंदू धर्म के उद्धारक कैसे हैं? हमने उन्हे सोच लिया कि वे हिंदू धर्म के उद्धारक हैं। जो व्यक्ति यह कहता है—'सो सब धर्म कर्म जरिजाऊ जिहि न राम पद पंकज भाऊ।' जाति-पांति, धन, धर्म, बडाई। सब तजि रहे तुम तुम्हहि लौ लाई।' राम के निवास का स्थल बतलाना है कि जाति, पाति, धन, धर्म, बड़ाई सब छोड़ करके जो तुम्हारे मे लौ लगाये वहां तुम रहो। जो व्यक्ति धर्म से चिपका रहे, जाति से चिपका रहे वहां तुम मत रहो। तुम्हारे लिए वहा जगह नही है, जो हाहाकार होता है हरि कीर्तन का, हरि कीर्तन के नाम पर जो साम्प्रदायिकता होती है वहाँ तुम मत रहो। वहां रहो जहा इस सबको छोड करके केवल तुम मे ध्यान रहता है। तुममे ध्यान का अर्थ होता है। तुममे ध्यान का अर्थ होता है सबमे

ध्यान। सबके दुःख का ध्यान। छोटे से छोटे प्राणी के दुःख का ध्यान। उसकी आवश्यकता का ध्यान। राम में ध्यान का अर्थ एक मूर्त स्वरूप लेता है भारत का। राम में ध्यान का अर्थ चुपचाप माला जपना नही है, पूरे जीवन को देखना है। उस व्यक्ति ने सीमित धर्म की बात नही कही। एक बड़े मानवीय मूल्य की बात कही जिससे जुड करके आदमी कहीं का हो, जरूरी नही है कि वह हिंदू धर्म में दीक्षित हो, जरूरी नहीं है कि ब्राह्मण हो, जरूरी नही है कि हिंदुस्तान का हो क्योंकि राम केवल हिंदुस्तान के नही, कृष्ण केवल हिंदुस्तान के नही। एक दृष्टि की चेतना का एक ज्वार है जो राम और कृष्ण की भावना मे है और हमने बराबर उसको व्यापक बनाने की चेष्टा की है क्यो वह व्यापकता हमने खो दी, और उस व्यापकता को खोने का ही अर्थ हुआ कि देश संकुचित हुआ और प्रदेश भी सकुचित हुआ। जहां हमने एक छोटा दायरा बनाया वहां दूसरा छोटा दायरा और छोटा हुआ जबकि वह छोटा नही था। मैं स्वय एक जमाना था कि प्रादेशिकता के आंदोलनों का समर्थक था। आज भी मैं समझता हूं कि केंद्र की क्षमता बहुरंगीपन से आती है, विविधता से आती है, एकरूपता से नही होती है। एकरूपता एकता का शत्रु है, एकता का विरोधी है, विघटक है। यूनिफार्मिटी (एकरूपता) नाम की चीज, कन्फार्मिटी, (समरूपता) नाम की चीज हमारी विचारधारा से मेल नहीं खाती। यह हिंदुस्तानी विचारधारा नही है। जो काफार्मिटी की बात करता है वह एक विलायती दिमाग की बात करता है। 1937 में राजाजी मद्रास के मत्रीमंडल के अगुवा बने, मुख्य मंत्री बने, उन्होने हिंदी अनिवार्य की और उस समय भी थोड़ा विरोध हुआ। विरोधियो को उन्होने जेल मे भेजा। टडनजी ने जिनके लिए कठमुल्ला शब्द का प्रयोग किया गया गाधीजी से कहा था—महात्माजी, यह बात ठीक नही हुई। यह अनुचित है, यह हिंदी के भाव के अनुकूल नही है। यह अंग्रेजी दिमाग की उपज है। अंग्रेजी दिमाग इस दृष्टि से सोचता है कि जो विरोध करता है उसको जेल मे भरो। हिंदी दिमाग ऐसा नही सोचता—हिंदी दिमाग से सोचा ही नही है राजाजी ने। राजाजी ने हिंदी का बहुत बड़ा अहित किया है और गाधीजी ने कहा था कि पुरुषोत्तमदास, जब तक राजाजी रहेगे तब तक हिंदुस्तान मे स्वराज्य नही होगा। यह दिमाग स्वराज्य का विरोधी है। जो पूर्ण स्वराज्य की कल्पना होती है, वह इस दिमाग से हो ही नही सकती। इस दिमाग मे स्वराज्य का अर्थ शक्ति है; इस दिमाग मे स्वराज्य का अर्थ दुःख की सुख की साझेदारी नही है। यह मैं एक अभिलेख के आधार पर कह रहा हूं। कोई सपने की बात नही कह रहा हूं। तो मैं समझा रहा था कि उस देश की बडी कल्पना को जो हमने खोया तो हमने एकरूपता की बात कही क्योंकि हमारे लिए देश का अर्थ हो गया एकरूपता। एक रूपता कितनी छोटी चीज है। एकरूपता क्या संभव है। हो सकता है कोई एकरूप ! सारी प्रकृति मे इतनी विविधता है, एकरूपता कौन चीज होती है ! अरे

एकता कहो तो दूसरी बात है। एकता का अर्थ होता है कि भाव के अनेक प्रकार हैं, भीतर की एक कोई चीज है जो जोड़े हुए है। जो एक टहनी टूटती है तो मनुष्य को प्रभावित करती है मनुष्य की शिरा को प्रभावित करती है। एक चिड़िया मरती है तो पूरे जीवन को प्रभावित करती है। एक क्रौंच का वध होता है तो पूरी सृष्टि का सामरस्य बिगड़ जाता है। उसकी पहचान करना ही एकता की पहचान है, एकता की पहचान ही देश की अवधारणा है, यही व्यापक देश का भाव है, क्योंकि देश का अर्थ एक दिशा है, गन्तव्य है। देश का अर्थ एक सीमा नहीं है, एक मंजिल है, निर्देश है—यहां जाओ; यहां आओ; इधर जाओ, यहां जाना है, इस ओर जाना है, इस ओर जाना है, सारे पथों का एक निर्देश है, वही देश है और प्रदेश उसकी धमनी है, उसकी शिरा है, उसकी नाड़ी है, जो देश के रहते ही प्रवाहित होती है, देश के न रहने पर प्रवाहित नहीं होती। देश से ही वह प्रादेशिक नाड़ी शक्ति पाती है और यही कारण है कि सारे हिंदुस्तान में अनेक भाषाओं के रहते हुए एक संकल्प था, एक कालगणना थी, संवत्सर अलग-अलग थे, तिथि एक थी; पर्व एक थे, और सारे अनुष्ठानों मे एकता थी; शास्त्र के स्तर पर नहीं लोकाचार के स्तर पर भी एकात्मता थी। सब जगह एक ही प्रकार के माई के थान थे। नाम दूसरे रहे हों। एक ही प्रकार की मां की निराकार मूर्ति थी, एक ही प्रकार की भावना थी मां के प्रति। भय, स्नेह, आदर सबकी मिलीजुली भावना जो एक आदिम से आदिम मन में होती है जो एक बड़ी शक्ति के साक्षात्कार के साथ उसके मन मे होती है (उससे डर भी लगता है, उस पर विश्वास भी होता है) दोनों का जो द्वैत रहता है वह सारे हिंदुस्तान में, हिंदुस्तान के जन मे व्याप्त है। ये सारी चीजें एक करने वाली थी। और इनको हमने जब संस्कृति का नाम दिया इन्हें भारतीय संस्कृति कहा, यह संस्कृति शब्द एक खतरनाक शब्द बन गया। हिंदुस्तान में संस्कृति कल्चर का अनुवाद हो गया और इस अनुवाद ने एक नाश किया है और सिक्यूलरिजम के अनुवाद के रूप मे धर्मनिरपेक्षता ने दूसरा नाश किया है। शब्द जब अनुवाद बनते हैं तो मूल अर्थ का ह्रास करते हैं। जैसे सिक्यूलर के लिए धर्म निरपेक्ष शब्द रखके हमने धर्म का अवमूल्यन किया। भला धर्म से कोई चीज निरपेक्ष होती है?

धर्म की अवधारणा यह है कि जिससे जीया जाय वह धर्म है और उसकी अवधारणा का एक प्रमाण दूं कि जब विश्वामित्र ने कुत्ते का मांस खाया तो उनकी निंदा हुई उन्होंने कहा कि नहीं, जीना सबसे बड़ा धर्म है। धर्म है जीने के लिए, जीने से ही सारी चीजें चलती हैं। जीना सबसे बड़ा धर्म है। उस धर्म से निरपेक्ष हुआ जा सकता है! कोई चीज होगी निरपेक्ष उस धर्म मे। हमने शब्द दे दिया धर्म निरपेक्षता। पश्चिम मे यह द्वैत था कि वहां पर धर्मपिता शासक होता था या शासन मे दखल देता था हमारे यहां ऐसा नहीं था, उनके यहां द्वैत का आधार था,

सेक्यूलर की आवश्यकता थी। हमारे यहा द्वैत था ही नही। शासन होता ही था लोकायत से। शासन का आधार अध्यात्म नही था। शासन का आधार प्रत्यक्ष जीवन मे, प्रत्यक्ष प्रमाण से जो चीज दिखती है वह था। लोक मे जो होता है वह था। जो लोक के अनुष्ठान मे है, लोक के व्यवहार मे है, वह था। लोकायत का अर्थ नास्तिकता नही है, लोकायत का अर्थ है प्रत्यक्ष का स्वीकार; प्रत्यक्ष कार्य के लिए, प्रत्यक्ष व्यवस्था के लिए प्रत्यक्ष का स्वीकार। हम अप्रत्यक्ष के लिए परोक्ष के लिए परोक्ष को स्वीकार करते थे। प्रत्यक्ष के लिए प्रत्यक्ष। इसमे द्वैत नही था—दोनो स्वीकार एक दूसरे के पूरक थे हमने धर्म निरपेक्ष बना करके धर्म को लगडा बनाया और सिक्यूलररिज्म को थोथा बनाया, पश्चिम के सिक्यूलरिज्म की तरह ही। उसी तरह से सस्कृति शब्द हमने लिया और लिया कल्चर के अनुवाद के रूप मे। कल्चर के लिए कोई शब्द चाहिए क्योंकि रिलीजन गडबड़ है। रिलीजन मे बायस पूर्वराग है, प्रेज्युडिस पूर्व द्वेप है। राग है, द्वेष है। लेकिन कल्चर एक बडी चीज है सब को समेटने वाली है और यह कहके हमने किया क्या है। हमने संस्कृति को निराकार निर्गुण बना दिया है अपरिभाषेय बना दिया है। उसकी कोई परिभाषा करने चलिये—उनमे क नही, ख नही, यह छाट दो, उसमे यह नही है, उसमे तुलसीदास को मत रखो, कबीर को केवल रखो नही तो गडबड हो जायगा। उसमे चैतन्य महाप्रभु को भी न रखा शायद गडबड हो जायगा। शकराचार्य को तो छोड़ ही दो इसमे। बुद्ध को थोड़ी देर तक के लिए रख दो। फलां को रख दो। अब यह जो काट छाट सस्कृति के नाम से शुरू हुई कि इनको रखो, इनको निकालो, इनको रखोगे तो गड़बड हो जायेगा—सस्कृति की अवधारणा कुछ गड़बड़ हो जायेगी, तो हमारे दिमाग में समाज की जो एक परिकल्पना है वह समाज बिगड जायेगा, यह खोट जो शुरू हुई तो उसके पीछे सस्कृति शब्द था; और उसका एन्थ्रोपोलोजी नृतत्व का सदर्भ था, जहां पर कि एक सौ वर्ष का इतिहास हो, वहां पर यह कुछ हद तक उपयुक्त था पर हजारों वर्षो का इतिहास उस इतिहास की तो कोई गणना ही नही—वहा पर सस्कृति शब्द व्यर्थ है, बेमानी है, उसका कोई प्रयोजन ही नही। हमारे पास शब्द था सस्कार, बड़ा अर्थ-गर्भ संस्कार और सस्कृति मे बड़ा अंतर है। सस्कृति को जो एक अर्थ हमने दे दिया वह इतना छोटा है और धर्म के अर्थ से तो इतना छोटा है कि हम कल्पना भी नही कर सकते। सस्कृति की बात करके हम जो रस है उसको तो खीच लेते है और रूप को प्रधानता दे देते है। आचरण को प्रधानता दे देते है। बाह्य आकृति को प्रधानता दे देते है कि यह जो राजपूत पेन्टिग का आर्ट है इसकी भगिमा है वह कल्चर है। पर वह राजपूत पेंटिग का यह एसेंस नही है। रस नही है। राजपूत पेंटिग मे जो एक छोटी तस्वीर मे ऐसी सघनता है कि मनुष्य और प्रकृति ओतप्रोत है, प्रकृति अलग जानी ही नही पड़ती कदम्ब का पेड़ और कृष्ण एक लगते है, बादलों

के बीच चमकती बिजली और राधा एक लगती है। राधा और बिजली मे कोई अंतर नही दीखता है—दोनो एक दूसरे के जोड़-तोड मे रहती है, आमने-सामने रहती हैं। उसमे जो एसेंस है, वह सार है, वह रस है। उसमे यह कला है, यह उसमे बारीकी है, यह सूक्ष्मता है, यह थीम है। श्रीकृष्ण राधा थीम है यह रस नही है। थीम कह करके उसको छोटा करना है। उस सस्कृति ने यह छोटी दृष्टि दी और सस्कृति की वात करके हमने एक निर्गुण, निराकार भाव की कल्पना कर ली कि यहा सब मिलजुल कर होता है पर सव मिलजुल क्या है, यह हम नही बता सकते। वताने से हम भागते हैं। और इसीलिए स्वाधीनता का क्या मूल्य हो सकता है, उससे भी भागते हैं। स्वाधीनता के लिए क्या कीमत हमको अदा करनी चाहिए उससे हम भागना चाहते हैं। बुद्धिजीवी वर्ग विशेष रूप से उससे कतराना चाहता है। सारी वात करेगा, मूल्य की वात करेगा, धर्म की वात करने से घवरायेगा, अर्थ की वात करने से घवरायेगा, पुरुषार्थ की वात करने से घवरायेगा। उसको लगेगा कि इन शब्दो मे कही सकीर्णता है। और मूल्य की बात करेगा—कीमत की वात करेगा। आदान-प्रदान-एक्सचेंज की वात करेगा। अपने मे निरपेक्ष से जो महनीय है, महत्वपूर्ण है, उसकी वात नही करेगा। जो सापेक्ष रूप से आका जाता है उसकी वात करेगा। अपने को जबरदस्ती एक सापेक्षता मे ढालकर के वात करेगा। उनसे हम कितने छोटे है, उनसे वडे हैं। क्या मतलव इससे कौन छोटा, कौन वडा। उनकी ग्रॉस इनकम क्या हैं, हमारी ग्रॉस इनकम क्या है, इससे क्या मतलव। अरे, आप मन से कितने वड़े हैं, और वे मन से कितने वडे हैं। उनके भीतर भी वडप्पन है, आपके भीतर भी वड़प्पन है एक स्तर पर। उनके भीतर भी वड़प्पन है। अमेरिका मे वच्चा पैदा होता है, फेंक दिया जाता है—चलो अपने पैरो पर खडे हो जाओ। उस आधुनिकता का मैं आदर करता हूं। कम से कम श्रम का तो महत्व है। हमारे यहा वच्चा एक ओर स्वतंत्र होना चाहता है, आधुनिक होना चाहता है, दूसरी ओर पिता पर आश्रित भी रहना चाहता है। पिता की कमाई भी खाना चाहता है और दहेज मे सब वसूल कर लेना चाहता है जो पूरे जन्म मे पैदा नही करेगा—सारी चीज वसूल कर लेना चाहता है—अपने वल पर, अपने परिश्रम पर कुछ नही करेगा। वह अमरीकी अर्थ मे आधुनिक भी नही है। इतना कामचोर, इतना वेईमान वह किसी तरह आधुनिक नही है और उस अनुशासन मे भी नही है (जिस अनुशासन मे बध करके एक दूसरी प्रकार की स्वतत्रता का बोध होता है) जिससे चार-चार ऋणो में बध करके, मनुष्य ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण, ऋषि ऋण, ऋण मे बंध करके आदमी मुक्त होता है क्योकि जव ऋणो की पूर्ति करता है तो उसके अहकार का अपने आप ही शमन हो जाता है। ससार से उसकी मुक्ति विना ऋणों की पूर्ति के नही होती है। ऋणो की वह पूर्ति एक अनुशासन है पूर्ति के बाद ही स्वाधीनता मिलती है।

स्वाधीनता एक कर्ज है जिसको चुकाना पड़ता है, और अपने एक-एक बूद रक्त से चुकाना पड़ता है, एक-एक दिन की खुराक से चुकाना पडता है। जब यह मूल्य चुकाने पर स्वाधीनता मिलती है तो वह वास्तविक स्वतंत्रता होती है। आप समझ रहे होगे कि कोई उपदेश देने की बात कर रहा हूं। उपदेश देने की बात नही कर रहा हूं। मै आपसे बता रहा हूं कि जिसने 1942 को देखा है उसके लिए आज का दृश्य बड़ा दुःखद है बहुत पीड़ा देनेवाला है। आप मे जो तरुण हैं उसकी कल्पना नही कर सकते। इन्कलाब जिंदाबाद का क्या महत्व था। हमारे लिए वंदेमातरम् का महत्व था, उसकी आप कल्पना नही कर सकते। उस उत्साह की, उस ज्वार की, जिसमे एक आदमी खड़ा रहता था और पुलिस का अफसर कहता था "ही इज अलोन शूट थैट हिम" सारे आदमी खड़े हो जाते थे और कहते थे—"ही इज नोट अलोन वी आर आल विथ हिम" उसकी आप कल्पना नही कर सकते, उस उत्साह की आप कल्पना नही कर सकते। आप गोली खाते हैं, सिनेमा के टिकट के लिए। कभी आपने देश को एक बनाने के लिए गोली खायी है! कभी आपने आसाम को अपनी समस्या समझा है! पंजाब को अपनी समस्या समझा है! कभी आपने विश्व के दूसरे देशो की जिस तरह से अमेरिका का विद्यार्थी, फ्रांस का विद्यार्थी वियतनाम के युद्ध के लिए लडा है कभी आपने उसको समस्या अपनी समस्या समझा है! हवा मे आपने बाते की हैं। बस मे ट्रेन मे उत्पात की स्वतन्त्रता के लिए आपने संघर्ष किया है। लेकिन इन फंडामेन्टल चीजो पर, इन मौलिक चीजो पर जो आपके अधिकार का प्रश्न है अपनी भाषा के गुमान पर आपने संघर्ष किया है! कभी कहा है जोर देकर हमे आप 36 वर्षों से हिन्दी माध्यम से पढ़ा रहे हैं और यू. पी. एस. सी. मे तुम अंग्रेजी माध्यम रखते हो, यू. पी. एस. सी. मे अभी भी अंग्रेजी अनिवार्य रखे हुए हो। केवल एक बहाना बना दिया है कि सारे पर्चे हिन्दी मे कर सकते हो लेकिन अंग्रेजी अनिवार्य है, हिन्दी अनिवार्य नही है। अंग्रेजी की जगह वैकल्पिक रूप हिन्दी रखते। जिनको अंग्रेजी की रुचि है ले। जिन्होने सारी शिक्षा हिन्दी मे ली वे गूंगे हो गये हैं। उनके पास भाषा नही है क्योकि हिन्दी के लिए उनके मन मे प्रतिष्ठा का भाव नही है। अंग्रेजी वे जानते ही नही। लडे हो कभी हिन्दी के लिए। कभी उसके लिए गोली खाने के लिए तैयार हुए हो! कभी तैयार हुए हो तो सोचो कितना विखंडन हो रहा है इस देश मे। एक जलियावाला बाग मे कांड हुआ सारे देश मे आग लग गयी। ऐसी आग क्यो नही लगती! कहा मर गया है देश का पानी! क्यों नही अनुभव होता है कि कही भी कुछ एक जगह टूट रहा है, तो हमारा हिस्सा टूट रहा है, हम टूट रहे हैं, पूरा अस्तित्व हमारा टूट रहा है, सम्पूर्ण जाति टूट रही है; यह अनुभव क्यो नही होता है। तो कही हमारी शिक्षा मे कमी थी। हमारे स्नेह मे कमी थी। हमने आपको स्नेह नही दिया, हमने आप को शिक्षा नही दी। हमने आप को बहकाया है, अपने को बहकाया है और आज एक खतरनाक

मोड पर हम खडे हैं। जब प्रदेश की बात इस रूप मे खड़ी हो रही है कि प्रदेश की स्वायतता के नाम पर, प्रदेश की इकाई के नाम पर, देश की उपेक्षा है। अगर देश के हित मे प्रदेश हो, देश की परिकल्पना करके प्रदेश हो, अगर यह समझ करके प्रदेश हो कि पजावी, हिन्दी, तमिल, गुजराती, इसमे क्या कोई सोचने का अलग-अलग ढंग है। क्या माता के और पुत्र के प्यार के वारे मे शब्दावली, विम्व, प्रतीक अलग हैं। क्या ऋतुओ के वर्णन मे कोई अलगाव है। क्या कोई दूसरी कोयल वोलती हैं तमिलनाडु मे। आज की शिक्षा विलकुल कैदखाने का एक घेरा है कि आपको एक प्लेटफार्म पर टिकाया जाता है कि गाड़ी मे जगह न मिले, तुम चाहे लुटो लेकिन गाड़ी मे जब तक जगह नही मिलती है, उसी प्लेटफार्म पर पड़े रहो। अनंतकाल तक पड़े रहो। पी-एच. डी. के वहाने पड़े रहो, डिप्लोमा के वहाने पड़े रहो क्योकि हमारे पास गाड़ी मे जगह नही है। हमने इस प्लेटफार्म को एक वहाना वनाना शुरू किया, इसीलिए गाडी मे जगह नही है। कम से कम प्लेटफार्म पर ही लोग खडे रहें और प्रतीक्षा करते रहे। कभी सोचा है आपने अपने भविष्य के वारे मे। अगर ऐसा भविष्य है तो उस भविष्य मे आग लगा करके सारे खतरे मोल ले करके, आह्वान करो कि एक सम्पूर्णता इस देश की है क्या। उस पीड़ा को समझो, विना उसको सोचे सारी शिक्षा सारा इतिहास व्यर्थ है। सव धर्म-कर्म, सव व्यर्थ है। यह जो सस्ता नुस्खा निकला है वावागिरी का, यह जो तन्त्रमन्त्र, जादू-टोना का निकला है, इससे सारे अखवार भरे पड़े रहते हैं। सोचता हू देश के अखवारो को हो क्या गया है। हर अखवार अपराध विशेषाक, हर अखवार जादू विशेषाक, तंत्र विशेषांक क्या निकाल रहा है यह। जव हनुमान ने सीता से कहा कि कहिये तो मैं आपको यहा से उठा ले चलू—मैं रावण को ऐसे नष्ट कर सकता हू, वैसे नष्ट कर सकता हू। सीता ने कहा नही—वह मैं भी कर सकती हूँ मैं दिव्य पराक्रम से नही जाना चाहती। मैं राम के मानवीय पराक्रम के वल पर जाना चाहती हूं। यह रामायण मे, वाल्मीकि रामायण मे लिखा है कि सीता ने कहा कि मैं इस दिव्य प्रयोजन का इस्तेमाल नही करूगी, इस शक्ति का अवलम्बन नही लूंगी। अपने वल पर, (मनुष्य का जो पराक्रम है, उसके वल पर) जाऊगी। वही उसी वाल्मीकि का देश तत्र-मंत्र के पीछे पागल है। वडे से वड़ा राजनेता वड़े से वड़ा आदमी, ज्योतिषी के पीछे, तांत्रिक के पीछे पागल है। व्यक्तिगत लाभ के पीछे पागल हैं। इतना लोभ, व्यक्ति का स्वार्थ इतना वढ़ गया है और भविष्य के नाम पर शरण अधर्म मे मिली है। इससे वढ़कर और अवमूल्यन हिन्दुस्तान जैसे गहरे विचारक देश, निर्मम विचारक देश का क्या होगा। यह देश ऐसा रहा जो पुण्य और पाप दोनो से ऊपर जाकर सोचता था, जो यह सोचता था कि अधर्म भी भगवान की पीठ है। अधर्म धर्म का विरोध नही है। अधर्म भी-एक वास्तविकता है। जव साक्षात्कार नही होता है भगवान् का तव अधर्म होता है।

भगवान की पीठ होने का अर्थ क्या होता है—भगवान का साक्षात्कार नहीं है। स्वामी रामानुजाचार्य के बारे मे कथानक देकर मै अपनी बात समाप्त करना चाहूंगा। एक कथानक ही है लेकिन कथानक का महत्व है। उन्होने एक दिन देखा कि जिस मूर्ति की पूजा करते थे उसकी पीठ मे व्रण हो गया है। यह क्या हुआ। बड़ा क्लेश हुआ, यह हमसे कौन सा अपराध हुआ। उनको सपना हुआ कि तुमने ही पीठ मे घाव किया है। तो मैंने क्या किया है, उन्होने कहा कि तुमने निरन्तर अधर्म का खण्डन किया है। धर्म की बात तुमने नही की है, अधर्म का खण्डन किया है। उसी के पीछे तुम पड़े रहे। यह उचित नही क्योकि अधर्म मेरी पीठ है। हमारी दृष्टि खडन को नही मानती, मानती है, अधर्म है भगवान की अनुपस्थिति है उसके बारे मे सोचते क्या हो। जो उपस्थित है उसके बारे मे सोचते क्या हो। जो उपस्थित है उसके बारे में सोचो। जो अनुपस्थित है, उसकी चर्चा क्यों करते हो। केवल अभाव की चर्चा करते हो, भाव की चर्चा नही करते। भाव की केवल चर्चा करो। उनको लगा कि केवल खण्डनात्मक दृष्टि से हमको हटना चाहिए। केवल एक शुद्ध रूप से भक्ति के पारावार की ओर बढ़ना चाहिए। उसी की ओर वे प्रवृत हुए अन्तिम जीवन मे। इस कहानी का और कोई अर्थ नही-एक ही अर्थ है कि जो आदमी यह सोचता है कि अमुक आदमी गलत कर रहा है, अमुक आदमी सही कर रहा है, अमुक आदमी,धर्म कर रहा है, अमुक अधर्म कर रहा है, छिः छिः यह तो अधर्म है, क्योंकि मै जो करता हूं यही धर्म है, यही असली धर्म है, मन्दिर मे जाना धर्म है, यह जो सोचता है वह मनुष्य के बारे मे कुछ सोचता ही नही है—सम्पूर्ण जीवन के बारे मे नही सोचता। वह सोचता ही नही। इस सब का एक ही पैमाना है, सबसे बडे धर्म की एक ही कसौटी है। महाभारत मे तीन बार युद्धिष्ठर से पूछा गया है तीन बार युद्धिष्ठर ने उत्तर दिया है। नृशस नही होना, करुण होना यही परम धर्म है, यही सारे धर्मो की कसौटी है। और इस कसौटी पर जो नही उतरता कितना भी वह पराक्रमी क्यो न हो, कितना भी विजेता क्यों न हो, वह छोटा हो जाता है। और इस कसौटी पर उतरने के लिए आदमी को बहुत झुकना पड़ता है तब उसका सिर ऊंचा होता है। मैं इतने ही शब्दो के साथ आपको बहुत-बहुत धन्यवाद देना चाहता हूं। बड़े देश की पहचान भी यह आनृशस्य है, यह करुणा है, दूसरे की परिस्थिति को समझ कर एक उदार तितिक्षा है। उस बड़े देश को भूल गये हैं, इसीलिए हमारा देश कही गुम गया है। उसको बुलाना है तो हमने जो सम्पूर्ण भाव की ओर से पीठ कर रखी है, एक झटके में मुड़े और अभिमुख हो अपनी वास्तविकता की ओर। मेरा यही आह्वान है कि आप इस सम्पूर्ण देश की विराट् वास्तविकता की ओर अभिमुख हो।

6

लोक की पहचान

समाजशास्त्र आज एक बहुत ही विकसित शास्त्र है। ऐसे विकसित शास्त्र के प्रति अब वैसी अवज्ञा रखना, जैसा आज से पचीस वर्ष पूर्व लोग रखते थे, सम्भव नही है। पर साथ ही विकसित हो जाने के कारण समाजशास्त्र पर भी यह दायित्व आ गया है, सम्पूर्ण समाज की व्याख्या करने का दायित्व लेने के कारण कि अन्य अनुशासनो को जैसे इतिहास, दर्शन, साहित्य, भाषाविज्ञान, मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, राजशास्त्र आदि के साथ सगत होकर आगे बढे। मै यहाँ भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य मे समाजशास्त्र का ध्यान कुछ प्राचीन भारतीय चिन्तन की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ।

सतही तौर पर लगेगा कि समाजशास्त्र नाम की कोई वस्तु प्राचीन भारतीय चिन्तन मे नही है, मानव-समाज की विशिष्टता की बात भी नही है, पर शब्दो पर न जाये तो गहरे तौर पर कुछ बातें मननीय है। यह सही है कि 'समाज' शब्द का प्रयोग आज के इसके अर्थ से अधिक सीमित क्षेत्र मे होता था, अशोक के अभिलेख मे निषेध आया है, समाज नही करना चाहिए, वहाँ समाज का अर्थनृत्य-गीत जैसे प्रदर्शन है। भरत के नाट्यशास्त्र में सामाजिक का अर्थ नाट्य नृत्य गीत की प्रस्तुति का ऐसा आस्वादक, जो अभ्यास से प्रस्तुति को हृदयंगम करने योग्य सरसता प्राप्त कर चुका है, मध्ययुग मे 'मुदमंगलमय सन्त समाजू। जिमि जग जगम तीरथ राजू' या, 'बूडे सकल समाज चढ़े जे प्रथमहिं मोह् वस' जैसे उद्धरणो मे समाज का सन्दर्भ विशिष्ट लोगो का समान उद्देश्य से जुटा समुदाय है। परन्तु एक दूसरा शब्द प्रचलित था, जो आज के अर्थ मे प्रचलित समाज के अर्थ को समेटते हुए और व्यापक महत्त्व रखता था, वह था लोक, जिसे हमने अब उल्टे अधिक संकुचित अर्थ दिया है, अशिक्षित-अर्धशिक्षित लोग, उसे अग्रेजी के 'फोक' का पर्याय बनाकर उसे कुछ दयनीय बना दिया है। लोक का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है, जो कुछ दिखता है, इन्द्रियगोचर है, प्रत्यक्ष है, सामने है। इसी से उसमे एक

समकालीनता और प्रत्यक्षविषयता का बोध होता है। लाक्षणिक प्रयोग के रूप में ही परलोक का प्रयोग है, जो लोक से परे है, दूसरा लोक है, वस्तुत. वह लोक नही है, वह लोक की तरह एक अन्य अवधारणा है।

इस लोक मे मनुष्यों का समूह ही नही, सृष्टि के चर-अचर सभी सम्मिलित हैं, पशु-पक्षी-वृक्ष-नदी-पर्वत सब लोक हैं और सबके साथ साझेदारी की भावना ही लोक-दृष्टि है, सबको साथ लेकर चलना ही लोक-संग्रह है, और इन सबके बीच मे जीना लोकयात्रा है। लोक को अर्थात् दिखने वाले कर्मों और देखने वाले लौकिक साक्ष्यों के आधार पर निर्णय लोकायत निर्णय है। लौकिक कार्यों के निष्पादन के लिए अध्यात्मविद्या के आचार्यों ने लोकायत की आवश्यकता समझी, क्योकि उन्हे लगा कि पूर्वजन्म का, अदृश्य मूल का हवाला देकर तो कोई न दण्ड का समुचित निर्णय ले सकेगा, न दीवानी दावे का। भारतीय चिन्तन मे इकहरापन देखने वालो को यही बडा कष्ट होता है कि भारतीय दार्शनिक एक साथ दो बातें करते हैं, परमार्थ के स्तर पर एक, व्यवहार के स्तर पर दूसरी, वस्तुतः उनकी कथनी-करनी मे भेद नही है। परमार्थ की बात करते समय भी वे व्यावहारिक सत्ता का प्रतिरोध नही करते, न व्यावहारिक कर्म का, क्योकि उसे अनिवार्य मानते हैं। शकर के भाष्य का आरम्भ ही होता है उस वाक्य से जिसके अन्त मे है—सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रसिद्धऽयं तवेदं ममेदमिति लोकव्यवहारः, सच-झूठ मिलाकर ही यह तेरा यह मेरा इस प्रकार का लोकव्यवहार प्रसिद्ध है। पर वस्तुतः ये सभी विचारक लोक की सम्पूर्ण समृद्धि के लिए, लोक के वास्तविक उत्कर्ष के लिए लोक को अतिक्रमण करने वाले तत्त्वो का चिन्तन करते थे, वह क्या है, जो इस ससार को एक सूत्र मे जोड़ता आया है, जोडता रहेगा। वह क्या है जो इसकी न्यूनताओं को भरता आया है, भरता रहेगा। वह क्या है, इसकी विसंगतियो का समाधान कहाँ मिलेगा और इसकी संभावनाओ के लिए ऊर्जा कैसे मिलेगी, इन सब प्रश्नो पर हमारे विचारक निरन्तर विचार करते रहे। सबने जो विचार किया, उसमे लोकहित था, पर वे स्वयं लोक से, लोक की रीति से कुछ न कुछ बाह्य हुए, बाहरी व्यक्ति हुए, वे लोक की व्यवस्था के बाहर हुए, लोक-व्यवस्था को चुनौती दी और साथ ही दूसरी व्यवस्था की आवश्यकता की बात बतलायी। ऐसे लोगो ने निश्चय शुभचिंतन की अनवच्छिन्न और गतिशील धारा बहायी, उन्होने व्यवस्था को जड़ नही होने दिया, पर सबकी छाप व्यवस्था पर पड़ती रही। कभी कम कभी ज्यादा। लोक की चिन्ता न हो तो योगेश्वर कृष्ण यह क्यों कहते 'उत्सीदेयुरिये लोका', ये लोक नष्ट हो जायें, यदि मै सजग होकर कर्म न करूँ, लोक की चिन्ता न होती तो तुलसीदास लोकमत की बात क्यो करते। इस प्रकार लोक की प्रतिष्ठा बराबर अक्षुण्ण रही है। भर्तृहरि ने लोक को महत्त्व देते हुए कहा कि—

"धर्मस्य चाव्यावच्छिन्ना. पन्थानो ये व्यवस्थिता. ।
न तान् लोकप्रसिद्धत्वात् कश्चित्तर्केण बाधते ॥"

उन्होने कहा भाषा व्यवहार के बारे मे, पर वह लागू है समस्त व्यवहार पर। भर्तृहरि का प्रतिपादन है कि यदि—

1. धर्म अर्थात् व्यवहार-आचार व्यवस्थित है,

2. वह बिना विच्छिन्न हुआ चलता चला आ रहा है,

3. वह लोक मे प्रसिद्ध है, प्रतिष्ठापित है तो तर्क के आधार पर उसके औचित्य के बारे मे कोई खडन नही कर सकता। प्रत्येक समुदाय के आचार मे कुछ न कुछ अटपटापन होना स्वाभाविक है यह सिद्धान्त तर्क-प्रज्ञा को निरर्थक नही करता, पर तर्कातीत की सम्भावना के स्थल इगित करता है। चलने के लिए भी कोई व्यवस्था चाहिए, कोई राह चाहिए, अर्थात् कोई गन्तव्य चाहिए, जहाँ राह ले जायेगी, चलने के लिए साधन चाहिए, पोषण चाहिए, वह सब व्यवस्था न रहे, तो चलना कैसे सभव होगा। आगे चलने पर गन्तव्य और समीप दिखेगा तो राह बदल भी जायेगी, पर उसके पूर्व की व्यवस्था ही तो ले जायेगी उस बिन्दु तक, जहाँ यह लगता है कि राह दूसरी होनी चाहिए। भगवान बुद्ध उस व्यवस्था से गुजर कर ही नयी राह का अन्वेषण कर सके। कबीर अपने घर की विद्या योग की पद्धति से गुजर कर ही हद के बाहर जाने की बात सोच सके। तर्क-प्रज्ञा को हमारे चितन मे निरन्तर महत्व दिया गया है, इसलिए वाक्य की सगति का शास्त्र मीमासा, अर्थ की परिशुद्धता का शास्त्र न्याय, शब्द-प्रयोग की उपयुक्तता का शास्त्र व्याकरण— ये तीनो प्रमुख शास्त्रो मे हैं। निरन्तर तर्क का परिशोधन या परिष्कार करते हुए पडितो की जिन्दगी बीतती थी, वे आप्तकाम होकर बेसुधी मे लोक बाह्य भी दिखते थे, पर उनकी दृष्टि निरन्तर लोकापेक्षी रहती थी। उनके उदाहरण सामान्य लोक व्यवहार से आते थे, कुम्हार के घडे बनाने से, जुलाहे के वस्त्र बुनने से, बढ़ई के लकड़ी मे से आकार निकालने से, कौवे के पेड पर बैठने से, गाय के सीधेपन से और पहाड़ पर धुआँ उठने से वह ज्ञान पाता था। वह पडित-परम्परा प्रबुद्ध तो थी, प्रबुद्धवादी नही थी, एलिटिस्ट नही थी। इस अर्थ मे हमारा पुराना सामाजिक भी एलिटिस्ट या प्रबुद्धवादी नही था। वह सामाजिक समाज के एक वर्ग-विशेष या स्तर-विशेष से नही आता था। अनपढ़ व्यक्ति भी काव्य सुनकर या नाटक देख कर रस लेने के कारण सामाजिक ही कहा जाता था, उससे अपेक्षा मानसिक तैयारी की थी, जो किसी दीक्षा से उतनी नही आती, जितनी अपने अभ्यास से। थोड़ी बहुत दीक्षा शुरू मे मिलनी आवश्यक है। जरूर, परन्तु दीक्षा केवल प्रवेश है, अभ्यास स्वय करना पड़ता है। ऐसा अभ्यासी सामाजिक अपने को प्रबुद्ध नही कहता, रसिक कहता है, सहृदय कहता है, क्योकि वह रचनाकार के हृदय के साथ है। इस कारण हमारी परम्परा सामान्य के साथ कभी अलग नही हुई, उसमे

'फोक' की परिणति नहीं है नागर, उसमें लम्बे समय से (जिसका ऐतिहासिक ओर-छोर नही मिलता) लोक और शास्त्र, ग्राम्य और नागर, साधक और सिद्ध, श्रमण या श्रावक और उपासक एक दूसरे के पूरक रहे हैं। जब-जब यह पहचान धूमिल हुई, तब-तब प्रचलित व्यवस्था से असन्तोष हुआ, नये गन्तव्यो की, पुरुषार्थों की तलाश हुई और उसके उपयुक्त नयी व्यवस्था के निर्माण का सूत्रपात हुआ।

इस दृष्टि से मैं समझता हूँ, भारत मे अपना समाजशास्त्र रचने की आवश्यकता है। पश्चिम का समाजशास्त्र जिस मानवकेन्द्रित सामाजिकता और उसकी आधारभूत समता की बात करता है, वह किंचित् अपर्याप्त है। मनुष्य तक ही जीवन की सीमा क्यों ? मनुष्य जब अपने आसपास के चर-अचर जीवन के साथ ओत-प्रोत है, आसपास की क्षति से जब उसकी भी क्षति होती है, तो उसका दायित्व तो बढ़ जाता है। यह सही है कि जिस प्रकार की तर्क-प्रज्ञा मनुष्य को प्राप्त है, वह अन्य प्राणी को नही, पर उस अन्य को भी कुछ ऐसा प्राप्त है, जो मनुष्य को नही और उस अप्राप्त के प्रति मनुष्य की श्रद्धा होनी चाहिए। हमारा सगठन उनकी सत्ता को नकार के या हेय मानकर होगा, जैसा पिछले तीन सौ वर्षों से हुआ है, तो यह जितनी उनकी क्षति करेगा, उससे अधिक मनुष्य की क्षति होगी, यह बात तो अब प्रमाणित हो चुकी है। इसलिए समाजशास्त्र की मानवकेन्द्रित दृष्टि का ध्यान सर्वभूतहित पर जाना चाहिए। दूसरी बात समता की है, समशब्द का व्युत्पत्ति से प्राप्त अर्थ है जो सत् मात्र हो, अर्थात् शुद्ध सत्ता हो, इसलिए समता को अर्थात् शुद्ध समता को सर्वत्र देखना। समता इस प्रकार एकत्व है, एकत्व बुद्धि है, बराबरी नही हैं, क्योकि पृथक्त्व के बिना बराबरी की बात ही नही सोची जा सकती, दो वस्तुये अलग होगी, तभी वे बराबर या गैर-बराबर दिखेगी, जब एक हैं तो फिर बराबरी गैर-बराबरी का सवाल ही नही उठता।

पंडिताः समदर्शिनः का अर्थ है, बुद्धिमान जन सबमे एक उसी सत् को देखते है—हाँ, वर्णन उनका अलग-अलग करते है, इन दोनो कार्यों मे अविरोध पाना ही योग है— 'समत्व योग उच्यते'। इसी के कारण कार्य मे कुशलता आती है कि वह कार्य सबके लिए है, इसलिए उसे सबके योग्य होना चाहिए, बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए, ध्यान अन्यत्र नही जाना चाहिए। इस प्रकार तादात्म्य को नीति का आधार मानना समता को आधार मानने की अपेक्षा बड़ा आधार है, इसे स्वीकार करना चाहिए।

मैं भलीभांति जानता हूं कि बराबरीवादी ('एगेलेटेरियन') पूर्वग्रह के लोगो को यह स्वीकार्य न हो और वे तर्क दें कि यह ढोंग अब नही पाला जा सकता, इसमें वर्ग-विशेष का निहित स्वार्थ है, इससे अधिसख्य समाज की प्रगति अवरुद्ध हो सकती है, इसमे सामाजिक न्याय की प्रतिष्ठा नही हो सकती, क्योकि तब बराबर मानकर दण्ड देने का विधान नही चल सकता, और एक ओर विडम्बना उपस्थित

होगी कि अपराधी से अपराधी के भीतर सन्त होगा और संत के भीतर अपराधी होगा, तो इन तर्कों का उत्तर दिया जा सकता है। पहली बात तो यह है निहित स्वार्थ जिस नियामक वर्ग का होगा, वह तो निहग है, निहंग नही है तो नियामकत्व उसमे है ही नही, जो ढोग दिखता है, वह इसलिए कि वही नियामक है, पर दिखते नही, अभी भी निहंग सत्त्वसम्पन्न सीधे-सादे लोग लोक मे आचरण के प्रतिमान के रूप मे स्वीकृत हैं, क्योकि वे निहंगपन का वेश नही धारण करते, पर अपने आचरण मे शुद्ध समता का निदर्शन उपस्थित करते है। दूसरी बात यह कि बराबरीवादी लोग सबको बराबर उन्नति देने की प्रतिज्ञा करके अपने लिए कुछ ज्यादा बराबरी प्राप्त कर लेते हैं, समत्व मे इसकी गुंजाइश नही है और न उस प्रकार की प्रतिस्पर्धा की गुंजाइश है, जो दूसरो के विनाश पर आधारित हो। यहा विचारणीय होगा कि क्या प्रगति की दिशा के बारे मे फिर से नये ढग से या कहे सनातन सर्वभूतवादी ढंग से सोचने की आवश्यकता नही है, भोग की साझेदारी की बात करके भोग की मात्रा को प्रगति का प्रमाण मानने की क्या अब भी सार्थकता है। तीसरी चिन्ता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, हमारे प्रबुद्ध समाजवादी विचारको की यह प्रमुख चिन्ता रही है कि हिन्दू, बौद्ध, जैन-सिख सामाजिक व्यवस्था मे कर्मवाद के कारण सामाजिक न्याय को स्थान नही है, जब शुभ अशुभ पिछले अनदेखे अनजाने कर्म ही इस जन्म के शुभ-अशुभ के कारण हैं तो फिर जो भी दु ख पा रहा है, सताया जा रहा है, उपेक्षित है, उसके प्रति उसका दायित्व ही क्या होगा, जो सुखी है सता रहा है, उपेक्षा कर रहा है या जो दया भी कभी-कभी कर रहा है। यह बात मुक्तकंठ से स्वीकार करते हुए कि दायित्व से कतराने का काम उस सुखी समुदाय ने इस कर्मवाद की ओट मे किया है, यह सर्वथा सत्य है कि कर्मवाद ने ऐसा कुछ नही कहा है, कर्मवाद की नियतिवादी व्याख्या दुर्भाग्यपूर्ण जरूर रही है। कुशल की अकुशल के प्रति, धार्मिक की अधार्मिक के प्रति ज्ञानी की अज्ञानी के प्रति क्या जिम्मेवारी है, इसी पर बल देते हुए गीता मे कहा गया है—

जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्त समाचरन्।

विद्वान् को, योगी को समस्त कर्मों के साथ प्रीति रखनी चाहिए और सभी मे समान तल्लीनता को ही चरम धर्म मानना चाहिए। एक भी प्राणी दु खी है, तो वह दुख अपना है इस दायित्व से मुक्ति कर्मवाद ने नही दी है। इसीलिए उस कर्मवाद के साथ जुडी हुई है भक्ति जिसका मूल अर्थ ही साझेदारी है, बंटाना है, अपने को बाद मे पहले दूसरे को देना है, दूसरो के चरम रूप विशाल सत्ता को निवेदित करना है, अपने जीवन को ही नैवेद्य बनाना है। कर्मवाद और भक्ति के आदर्श बराबर साधे जाते रहे, और इसीसे भक्ति आंदोलन ने कर्म का प्रतिषेध नही किया, न आचार का, उसने सामान्य के भीतर की सम्भावना का उन्मीलन मात्र किया और विशालता के आधार पर नयी आचार-संहिता बनायी, जिसमे सर्वभूतभाव पर

बल था। दुःख की बात यह है कि वह सब देन अकारथ हो गयी, क्या कारण है, इसकी मीमासा हमको करनी है। पश्चिम के ऊपर दोष डालने से काम नही चलेगा, न अपनी परम्परा को कोसने से, एक ऐसी सजग और समंजस दृष्टि से इस पूरी स्थिति का पर्यवलोकन करना होगा, आत्ममन्थन करना होगा कि आज जो कुछ घट रहा है उसका कारण क्या है? हमारा प्रमाद, हमारी धुंधली दृष्टि जो सतह के आगे नही जाती, हमारा आलस्य, हमारा अपने भीतर का चोर (हम क्यो घरफूंक कबीरदारी अभियान के लिए चलें) या हमारा अपनी परम्परा के प्रति खण्डन नहीं उपेक्षा या तिरस्कार का भाव? आज ये प्रश्न छेडकर ही मैं विराम लेना चाहता हूँ। कुहासे के पार की राह आपको दिखे, इस मंगल-कामना के साथ इस अधिवेशन का द्वार खोलता हूं।

काशी विद्यापीठ मे आयोजित उत्तर प्रदेश समाजशास्त्र परिषद् के अधिवेशन में दिया गया उद्घाटन भाषण।

7

पुनर्जागरण या सम्मोहन

यो तो कोई भी सदी साहित्य या संस्कृति की गति को समझने के लिए कोई निश्चित अवधि नही होती, क्योकि काल तो बहता रहता है, बहुत कुछ पीछे का लेता चलता है, कुछ नया जोडता है, कुछ नये कगारे तोडते हैं, नयी मोड लेता है तो भी पहले का दबाव कही न कही रहता है। परन्तु कल्पित ही सही एक कलावधि मे कुछ सयान मुख्य विशेपताओ को आधार बना कर हम कहते हैं कि यह अमुक प्रवृत्तियो के उदय का काल है। उन्नीसवी शताब्दी सन्धिकाल है। इसमे कुछ दिखता है, कुछ नही दिखता है, कुछ बहुत मोहक दिखता है, कुछ कही नये सितारे दिखने लगते हैं, नया चन्द्रोदय दिखता है।

इस काल को लोग भारतीय साहित्य मे प्राय· पुनर्जागरण काल या जातीय चेतना के प्रादुर्भाव का काल मानते हैं। कुछ लोग गन्ध के उदय के साथ-साथ इस काल के छापेखाने के प्रभाव से लिखित सम्प्रेषण का शुभारम्भ देखते हुए, इसे तमाम सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक चुनौतियो का सामना करने वाला आधुनिक काल का पूर्वाभ्यास मानते है। कुछ लोग शिक्षा के नये माध्यम के उदय का काल मानते हैं, सस्कृत फारसी की पारम्परिक शिक्षा का स्थान अग्रेजी ले रही है और प्राथमिक स्तर पर देसी भापाये ले रही है। उस दृष्टि से उन्नीसवी सदी का पूर्वार्ध सस्कृत फारसी के नवोत्थान का और उत्तरार्ध हिन्दी-उर्दू के नवोत्थान का काल माना जाता है।

दूसरी दृष्टि से बडे सम्भ्रम की यह कालावधि है, व्रजभापा की कविता अपने पूर्ण रूप मे विकसित होकर देवार्पण हो रही है, कविता की नयी कच्ची भाषा उभर रही है जिसके ऊपर ब्रजभापा की छाप बनी हुई है। ब्रजभापा को अलबिदा नही कहा जा रहा है पर व्रजभापा की गैल पीछे छूटती जा रही है उसके लिए मोहासक्ति बडी प्रवल है। दूसरी ओर हिन्दी नये चाल मे ढल रही है, कभी संस्कृत के तत्सम शब्दों की ओर दौडती है, कभी ठेठ देसी मुहावरो की ओर, कभी अरबी-

फारसी की सी बंदिश की ओर, कभी दोनों को मिला जुला कर नयी नयी कृत्रिम भाषा गढ़ने की ओर, कभी संस्कृत के वाक्य विन्यास की ओर, कभी उर्दू के चुलबुलेपन की ओर और कभी अंग्रेजी वाक्य विन्यास की ओर, पर इन सब ढलाइयों के दबाव के बीच हिन्दी भाषा का स्वरूप बहुआयामी हो रहा है। नयी भाषा को मानक की तलब हो रही है, भाषा सर्वसाधारण तक पहुंचने के लिए बेताब है।

इसी कालावधि मे एक ओर अंग्रेजी ढंग के महाविद्यालय, विश्वविद्यालय खुलते है तो दूसरी ओर संस्कृत फारसी अरबी के पारम्परिक उच्च संस्थानो का सरकारी संरक्षण में संस्थापन होता है। कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कॉलेज यों तो अठ्ठारवीं शताब्दी के अंतिम दशक में स्थापित हुए, पर उन्होने जड़ पकड़ी उन्नीसवी शताब्दी में। इन संस्थाओ का सरकारी छत्रछाया में संरक्षित वन के रूपमे विकास होता है जहाँ बल इनके रूप को बनाये रखने पर है, जहाँ इन्हे क्लासिक के रूप में भाव में देखा जाता है। पारम्परिक शिक्षा का जो जन जीवन से जुड़ाव था, विशेषत: गांवों में, वही शिक्षा केन्द्र मे थी, वही शिक्षा शिक्षा थी, वह अब हाशियें मे चली जाती है।

इसके कारण उसकी खुली चिन्तन पद्धति का परिसीमन होता जाता है और पंडिताऊपन जड़ता का वाचक शब्द बन जाता है। अंग्रेजी शिक्षा की नयी पद्धति इतिहास का एक चोखटा देती है, जिसमे अतीत तो है पर वर्तमान नही है। इसी कारण इस युग मे अतीत गुण गोरव की नयी रूमानियत पनपती है, जो हिंदुस्तानी सोचने के ढग से अलग है, उसमे सम्पूर्ण पर बल है, कहां तक आ पहुंचे हैं और कहां हम जा रहे हैं, इस सबको समेटने का भाव है। मैंने शुरू मे कहा था कि इसीलिए यह कुछ संपूर्ण न दिखने का काल है, यह संध्या काल है, कुछ ही दीखता है, पर मोहक दिखता है। पूरा क्षितिज नही दिखता।

मैं ग़लत समझे जाने का जोखिम उठाकर कहना चाहता हूं कि यह काल प्रतिगामी है, दो अर्थों में एक तो इस अर्थ मे कि जहां नादिरशाह और अहमदशाह के खिलाफ लड़ने के लिए हिंदुस्तानी एक हो रहे थे, और उस एक का प्रभाव जन मानस पर पडने लगा था, हिंदू मुसलमान के उत्सव सम्मिलित होने लगे थे, हिंदू फारसी में कविता कर रहे थे, मुसलमान बड़ी संख्या मे ब्रजभाषा मे कविता कर रहे थे, एक नयी जमीन तैयार हो रही थी, वही भेद पनपाया जाता है। गर्साद तासी के शब्दों मे यह लिखवाया जाता है 'हिंदी मे हिंदू धर्म का आभास है, वह हिंदू धर्म जिसमे बुतपरस्ती है। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी संस्कृति और आचार विचार का संचय है। इस्लाम भी सामी मत है और एकेश्वरवाद उसका मुख्य सिद्धांत है, इसलिए इस्लामी तहजीब मे ईसाई तहजीब की विशेषतायें पायी जाती हैं'। इस सिखावे ने ही मुसलमानों को अंग्रेजों का प्रीतिपात्र बनाने का मंत्र पढ़ाया और हिंदू मुस्लिम भेद की नयी शुरूआत की।

दूसरी प्रतिगामिता दिखाई पडती है इसमें कि जहां विश्वदृष्टि अधिक व्यापक थी-और लोक मगल की भावना अधिक प्रवल थी, वहां औद्योगीकरण और यूरोपीकरण के दवाव मे विचित्र सोशल सवेदना उपजी, जिसका देश काल सीमित था, जिसने भारत की प्रकृति से कुछ अलग राष्ट्रीय भावना पर वल दिया है। यह सही है इससे दवाव मे अपने को पहचानने का संकल्प जगा, परन्तु उन्नीसवी शताब्दी के पूर्वार्ध की उन्मुक्तता कम हुई जिसमे व्यापक धार्मिक चेतना थी, मतों के स्थापन या खंडन का आग्रह नही था, जिसमें महाभारत हिंदी में लिखा गया, जिसमे वोधा ठाकुर मीर द्विजदेव जैसे कवियों ने भक्ति और प्रेम की जगद्व्यापी वड़ी सीधी भावना पर पुरअसर भाषा में जगायी, जिसमे विदेशी राज को उखाड़ फेंकने का सकल्प प्रतिफलित हुआ, और उत्तरार्ध में वडा नया तुला हिसाव आया देश का राष्ट्र का धर्म के नाम पर मत के प्रवर्तन का, सुधार के नाम पर अखंड वोध को खडित करने का। उन्नीसवी सदी के उत्तरार्ध ने पुराण रचना की निरतरता पर प्रश्न चिह्न लगा दिया, पुराण गप्प हो गये, मिथ मिथ्या हो गया, सच वस उपनिपदो के कुछ वाक्यो मे वंध गया, अध्यात्म लोक से अलग हो गया और भौतिकता नाम की एक अजूवा चिडिया उड़ान भरने लगी।

इसमें कोई सदेह नही कि राष्ट्रीय आकांक्षा के उदय से वहुत सी अच्छी बातें भी हुईं, परंतु सकीर्ण राष्ट्रीयता और अंग्रेजो की कुशल वुद्धि से कटी छटी राष्ट्रीयता ने स्वाधीनता के ज्वार को परिसीमित कर दिया और हिंदुस्तानियत को अंग्रेजियत का लवादा पहनाकर 'अग्रेज राज के सुख साज' का कृतज्ञ वनाया जाने लगा। दूसरे शब्दो मे स्वाधीन और स्वदेशी चिन्तन की कोर मर गयी।

इन्ही दृष्टियो से मैं 19वी सदी को नये मोड़ नये सधि-काल, नये चढ़ाव-उतार के रूप मे तो पाता हू पर इसमे पुनर्जागरण जैसी कोई वात है नही। पुनर्जागरण अपनी आवश्यकता से आता है। उसके लिए सुगवुगाहट जरूर दिखाई पडती है, पर उपाय सब उधार लिए हुए है। जो हिंदू धर्म संस्यागत नही था, इसीसे सर्वग्राही और स्वीकारी था, वह संस्थागत होने लगा, और मतो के विरोध मे मत वनने लगा, जो भाषा वहता नीर होकर सवको अपने साथ ले जाती थी, होली, कजली, ठुमरी-दादरा, ध्रुपद-धमार में विना जाति के भेद-भाव मे सव डूवे थे, सव तिरे थे, वहां उन्नीनवी सदी के उत्तरार्ध मे जातीय और मतीय सगठनो का वोलवाला हुआ। इसमे निश्चय ही विचारोत्तेजकता आयी सही, पर सहज उछाल की संभावना कम हो गयी।

लोक के स्थान पर समाज, धर्म के स्थान पर मत, सम्पूर्ण अभ्युदय का आध्यात्मिक और भौतिक दो अलग भागो मे खंडन, साझेदारी की जगह व्यावसायिकता की वृद्धि, परस्पर अवलम्बी परिवार भाव की जगह अलग-अलग व्यक्ति, घरौंदो की रचना पर वल, यह सव घटित होने लगा और ऊपर से राष्ट्रीयता जगी पर

भीतर से विचारों की वेडियां और अधिक जकड़दार होती गयी।

इसके बावजूद हिंदुस्तान हिंदुस्तान ही है। हफीज्जुल्ला ने ब्रजभाषा के छंदो का संग्रह हजारा छपवाया, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने रसा नाम से शेरोशायरी की और 'दोनो जहां के ऐश को खाक मे मिलाया', प्रतापनारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट ने तीखे व्यंगों का प्रहार अंग्रेजियत और अंग्रेजी कुशासन पर किये, इसी अवधि की उपज है मदनमोहन मालवीय और लोकमान्य तिलक, जो नरम और गरम ऊपर से होते हुए भी कही गहरे तौर पर भारतीय मनीषा की ऊर्जस्वी उदार फक्कड़ भाव से जुडे हुए हैं और इसी अवधि में गवर्नमेंट संस्कृत बनारस के पंडित डारविन के सिद्धांतों की मौलिक आलोचना करते हैं, भारतीय ज्योतिष की व्यापक दृष्टि का उन्मेष सुधाकर द्विवेदी करते हैं। इसी अवधि मे लोकसम्पदा का महत्व समझने की कोशिश शुरू होती है और शहरीकरण के प्रयत्नो के प्रतिरोध मे गांव उभरता है।

समग्र दृष्टि से उन्नीसवी शताब्दी में पुनर्जागरण का बीज एक ओर अंकुरित होकर कुचल दिया जाता है, दूसरी ओर औद्योगिक सम्मोह में पनपी राष्ट्रीयता जागती है। समाज की अवधारणा सामंजस्य के रूप में न होकर उद्योग इंडस्ट्री के रूप में होने लगती है और लोकमंगल का स्थान भौतिक अभ्युदय और रसभीनी भक्ति का स्थान अनाकार कोरा अध्यात्म लेने लगता है।

पर इससे सर्जनात्मक तनाव उत्पन्न होना है और वह तनाव सक्रियता लाता है, तभी मिट्टी की सोंधी महक उभरती है। उन्नीसवी सदी बीसवी सदी की विडंबनाओं को समझने के लिए एक चौखटा तो देती है और न्योता भी देती है कि एक खुला संसार है आधुनिकता के नाम पर यूरोपीकरण के मोहपाश से मुक्त पर उधार ली गयी आधुनिकता का प्रलोभन भी तीव्र करती है। हम उन्नीसवी सदी के रंगमंच के पात्रो के कृतज्ञ हैं कि वे विवश करते हैं हम अपनी पहचान अपनी पूरी पहचान पायें, अधूरी पहचान पहचान नही होती।

8

साहित्य की पहचान

मंच पर उपस्थित सभी साहित्य प्रेमियो, देवियो और सज्जनो। यहां आकर मुझे प्रसन्नता इस बात की होती है कि राजस्थान साहित्य अकादमी इस सोहार्दपूर्ण वातावरण मे और इस शालीनता के साथ साहित्यकारो का सम्मान कर रहा है, वह बहुत ही प्रीतिकर है, यद्यपि रचनाकार की वास्तविक मजूरी उसका सहृदय पाठक या श्रोता देता है पर समाज का जो विशिष्ट वर्ग है जिसका प्रतिनिधित्व यहां है यह भी एक ढग से उनकी मर्यादा का स्मरण कराता है तो प्रसन्नता यह होती है कि साहित्यकार का जो सम्प्रेष्य है वह वस्तुत. सम्प्रेपण के महत्व को समझ रहा है। साहित्यकार का आदर करना सम्प्रेपण को महत्व देना है क्योकि साहित्यकार अपने लिए आदर नही मांगता, अपनी कृति के लिए पहचान मागता है और यदि कृति पहचानी जाती है तो उसे संतोप होता है। उसका प्रयोजन सिद्ध होगा। वस्तुत: अपने समय मे रहते हुए अपने समय को सम्बोधित करते हुए अपने समाज में जीते हुए, जूझते हुए समाज के लिए कभी-कभी वह ऐसा भी लिखता है, ऐसा भी सोचता है, जो तत्कालीन समाज को प्रिय नही लगता है, उसको रुचता नही है, उसकी भाषा अटपटी लगती है लेकिन आगे आने वाले समाज के लिए वह एक जीवन मूल्य के रूप मे हो जाती है। साहित्य का सम्बोध्य कुछ तो दृश्य है, कुछ सामने है। कुछ अदृश्य है, सामने नही है उस अदृश्य का ध्यान बनाये रखना रचनाकार का बहुत बडा कर्तव्य होता है क्योंकि साहित्य की सबसे सटीक परिभाषा यही है कि जितनी बार वह दोहराया जाए, जितनी बार पढा जाए उतनी ही बार जिया जाए, सही अर्थ मे जिया जाए, उतनी बार पाठक या श्रोता के द्वारा नया रचा जाए। प्रत्येक साहित्य अलग-अलग ज़माने में अलग-अलग ढग से रचा जाता है। यह बार-बार रचा जाना उसकी सबसे सटीक पहचान है। जब साहित्यकार सोचता है कि इसमे बार-बार रचे जाने की क्षमता आए तो निश्चय ही आगे की सोचता है और अपने जमाने मे रहते हुए अपने बाहर जाकर सोचता है। बड़ा

लेखक इसलिए जहां अपने से अलग होता है अपने छोटे-मोटे दायरे से अलग होता है, कुल जाति, विद्या के तमाम दायरे हैं जो उसे घेरे रहते हैं उन घेरो को तोड़कर अलग-अलग जहां कहीं बाहर आता है, निकलता है वैसे ही वह अपने समाज से भी अलग होता है। समाज को 'हम' होकर के सोचता है समाज को अपने में समो करके सोचता है। कबीर ने कहा 'हम सब में सब हम में हम फिर बहु अकेला' यह जो अकेलापन उसका है यह असहायता नही है, बड़ा भारी विश्वास है। यह अनुभव करना है कि हम सब मे है, सब हम मे समा गये हैं और इस अनुभव के विषय से 'हम' से सबसे अलग करके देखना एक विशेष प्रकार की अनुभूति है। एक विशेष प्रकार की यातना भी है। इस यातना से गुजरे विना कोई लेखक बड़ा नही होता है इस द्वन्द्व से गुज़रे विना कोई लेखक बडा नहीं होता है। अपने को काटने मे और उस दु:ख-दर्द को, उल्लास को, सुख को, एक वहुत बड़ी घरिया मे डालने मे कोई वस्तुत: ऐसा सुख नही मिलता जिसे बडा सुख कहा जाए। सुख कही अन्यत्र मिलता है ऐसी यातना से गुज़र करके लेखक को तृप्ति उस अकेलेपन मे होती है कि जब देखता है कि मैं कितना सम्प्रेषित हुआ हूं और सम्प्रेषित होकर के मै कितना सुसंस्कृत हुआ हूं, नवनिर्मित हुआ हूं, मैं फिर से रचा गया हूं, सिरजा गया हूं।

यह वात जरूर है कि आज के जमाने मे समकालीनता का दबाव कुछ ज्यादा है। दो कारणों से ज्यादा है कि एक तो यह कि समकालीनता बहुत जल्दी-जल्दी बदलती है दर्शक बड़े जल्दी-जल्दी बदलते हैं और ऐसा लगता है कि पतझड़ जल्दी आता है। तेजी से चीजें भागती हुई नज़र आती हैं, उसके साथ दौड़ना पड़ता है, इसलिए समकालीनता का दबाव भारी है। और इस दबाव के साथ ही यह दबाव है कि कितना तुम न वहो कितना तुम भाव के साथ रहते हुए से अलग होकर सोचने के लिए समय निकालो, इन दोनो के बीच में तनाव उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है। एक दूसरा कारण भी है कि भाषा समूह संचार माध्यमो—विशेषकर के इलेक्ट्रा-निक माध्यमों के दबाव में चौरस होती जा रही है, इतनी चौरस होती जा रही है कि उसकी कोर मरती जा रही है, उसकी सूक्ष्मताए, उसकी विभिन्नताएं अब मरती जा रही है। एक प्रकार का एक विरस भाव उसमे भर रहा है, उससे कैसे बचा जाये क्योकि जहां समूह उत्पादन होता है वहां विशेषता खो जाती है। एक दुरन्त समस्या सामने है। साहित्य मे सामान्य की तलाश होती है लेकिन उस सामान्य की तलाश होती है जो विशेष अनुभूति में उतरा है, सामान्य अनुभूति मे नही उतरा है, दूसरे के द्वारा आरोपित रचित अनुभूति मे नही उतरा है, अपनी अनुभूति मे उतरा है, अपनी ज़मीन मे उभरा है, है तो सामान्य लेकिन जहा उभरा है वह विशिष्ट है, और अगर वह नही है निश्चय ही उसका सम्प्रेषण दूर तक नही जाएगा। समय मे और देश में दोनों मे। इस दबाव के कारण कि हम यदि समकालीनता के दबाव में घटिया होते है, सस्ते होते हैं तो हमें कही से एक बड़ी प्रताड़ना मिलती है जिनके

पास अपनी रुचि नहीं, जिनके पास अपनी पसन्द नही उनकी पसन्द के पीछे क्यों दौडते हो ! उसकी रुचि का ध्यान रखो जो आगे आने वाला है। उसकी रुचि एक चटपटी रुचि नही होगी, मसाले की रुचि नही होगी, उसे सादा भोजन चाहिए, ऐसा स्वाद चाहिए जो स्वाद टिक सके। जो स्वाद मुह मे कुछ देर तक टिक करके मन को बिगाडने वाला न हो, उस आदमी का ध्यान रखो और पहले की चिन्ता छोड़ दो मैं सस्ती रुचि के लिए नही लिख सकता हूं तो नही लिखूगा। एक ओर से तो प्रताडना मिलती है दूसरी ओर मे आमत्रण। एक आदरणीय भाई ने कहा कि आप ऐसा साहित्य क्यो नही लिखते जैसा तुलसीदास जी ने लिखा, सूर ने लिखा। क्या पता तुलसीदास ने जब लिखा उनके बारे मे भी ऐसी बात नही रही, तो क्या पता अगर ऐसा न होता तो तुलसीदास को यू क्यो कहना पड़ता 'धूत कहो, अवधूत कहो, रजपूत कहो, जुलहा कहो कोऊ, काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब, काहू की जात बिगडन सोऊ/तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रुचे सो कहै सोऊ।' क्यो कहते हैं कि जिसको जो कहना वह कहे इसको हमे कुछ परवाह नही,/ यह कहने की आवश्यकता ही बताती है कि कही अपने समय मे मान्यता मे कुछ बाधा है, पर साथ ही यह भी ध्यान है कि घटिया भाषा मे लिखी चीज को साहित्य की मान्यता नही मिल सकती है तो अपने जमाने मे जो आदमी इतने ही तानव से गुजरता है और इसके बाहर जाना चाहता है अपने बावजूद बाहर जाना है अपनी प्रतिष्ठा के बावजूद बाहर जाना चाहता है वह निश्चय रूप से यह जोखिम फिर से मोल लेता है। साहित्य लिखना जोखिम के सिवाय कुछ भी नही है। मैं जब पढ़ता था तो कुसग-सत्सग से मैंने लिखना शुरू किया अपने समय का सही विद्यार्थी था। जो पैमाना होता था उस समय का उसके अनुसार सही विद्यार्थी था। प्रथम श्रेणी के अक मिलते थे। पिताजी को पता चला कि लड़का कविता लिखता है। उन्होने कहा घर से गया, काम से गया। तो प्राय. इस व्यापार मे आता है समाज मे गैर-जिम्मेदार मान लिया जाता है।

साहित्य रचना गैर-जिम्मेवारी मानी जाती है। अरे ! भाई कवि है, ठीक हैं, व्यवहार से शून्य हैं यह कहकर पहले ही खारिज कर दिया जाता है। हम सबके भाई अज्ञेय ने एक बार कहा था, तलब उसकी होती है जो तलब कोई नही पूरी कर सकता। तमाम चित्रपट हो आते हैं, फिल्म देखते हैं, कई चीजें देखते हैं, मनो-रजन के अनेक साधन ढूढ़ते हैं। क्या-क्या करते हैं !लेकिन एक तलब होती है और तलब एक पक्ति के लिए होती है जो पंक्ति आज के 50 वर्ष पहले, 10 वर्ष पहले कही पढ़ने को मिली और गूजती रहती हैं उसके लिए तलब होती है, वह तलब वैसे ही है जैसे किसी व्यसन के लिए तलब हो और जिसका व्यसन बनता है वही जानता है कि साहित्य क्या है ? जिसका व्यसन नही बनता वह नही जानता कि साहित्य क्या है ? वह भी किसी न किसी प्रकार के साहित्य का रसास्वादन करने के लिए किसी

न किसी क्षण में आकुल हो जाता है। आज के लगभग 150 साल पहले एक अंग्रेज कर्नल था, उसने फोक साङ्स ऑफ इण्डिया के नाम से संग्रह तैयार किया और अनपढ़े सिपाही से जो उसके यहां थे कहा कि अपने यहां का जो लोक प्रचलित गान हो उसे सुनाओ, उसका अर्थ बताओ तो उन सिपाहियो को जो छद जो कविताए कंठ थी उन्हे संग्रहित किए, उनमें केशवदास की कविताए थी लोकगीत थे और उनका अंग्रेजी पद्य-अनुवाद किया और अनुवाद से पता चलता है कि जो अर्थ उन्होने समझाया था सटीक अर्थ है। तो परिवर्तन हुआ है न एक वाचिक परपरा मे छापेकी परपरा मे सक्रमण हुआ है। वाचिक परम्परा के सवल को छापे की परपरा ने लीला तो नही है, पर जो छापे की परपरा मे वचित रहा उसकी वाचिक परपरा भी चली गई। छापे से ज्ञान का प्रसार हुआ पर हिन्दुस्तान के आदमी की साक्षरता उस स्तर तक नही पहुचाई गई कि वह अपनी जातीय स्मृति को बार-बार वुला सके, उसको गुहार लगा सके। साक्षरता के नाम से जो किया जाता है, जो सिखाया जाता है उसमे वह कुछ भी नही रहता। जो कुछ उसकी जातीय स्मृति मे है, कविता मे है, कहानी मे है, लोककथा मे है, लोकोक्तियो मे है। वह कुछ भी नही जो साक्षरता की पोथियो मे पढ़ाया जाता। सबसे बड़ी कमजोरी साक्षरता अभियान की यही है कि जिसमे भी शिक्षा उनको मिलती है रही और छापेखाने मे जिस शिक्षा से वचित किया उस शिक्षा से साक्षरता अभियान ने भी वचित किया। आनन्द कुमार स्वामी ने कश्मीर की वादियों मे घूमते हुए एक गड़रिये से हाफिज का पूरा दीवान सुना और उसका अर्थ जाना। हाफिज का फारसी दीवान इतना आसान नही है। उसने उन्होने दीवान क्यो पढ़ा भाई ? क्यों पढ़ा ये कोई पूछने का सवाल है, हाफिज क्यो पढ़ा ? पढ़ा ? मैं रोटी क्यो खाता हू ? कुमार स्वामी दग हो गये सुनकर। जिन लोगों ने तुलसी को पढ़ा था, सूरदास को पढ़ा था किसलिए पढ़ा। स्व० भाई वालकृष्ण शर्मा कहते थे मेरा लगाव कविता से है इसलिए कि अपनी मां के मुह से चक्की पर सूरदास के पद को गाते सुनकर के हर्ष हुआ कि श्रम और सूर के पद मे सम्बन्ध है। आज कौन महिला रसोई वनाते समय निराला की कविता पढ़ती है, गुनगुनाती है, यह परिवर्तन किसने किया है। इस परिवर्तन पर ध्यान देना चाहिए। कबतक केवल लेखक से ही मांग की जाएं कि तुम मेरी रुचि के अनुसार लिखो। आज हिंदी भाषी क्षेत्र में जैसी दुर्दशा है वैसी दूसरी भाषाओ मे नही है, वहां पाठक है। बंगाल में विवाह के समय यदि वोई (पोथी) दी जाए भेंट मे तो बहुत बडा उपहार माना जाता है। हिंदी-भाषी क्षेत्र में किसी को पुस्तक दी जाए तो सोचेगा कि यह तो बड़ा घटिया है। कोई इलेक्ट्रानिक माल कूड़ेदान में फेंकने लायक चीज, कोई डेजर्ट कूलर या रंगीन टी० वी० तो दिया ही नही गया। पुस्तक का क्या करू ! जीवन की उपयोगिता के बारे में यहां इस प्रकार की मानसिकता है, वहां जीवन मूल्य के लिए उपयोगी होती है कोई चीज कुछ चीजें

जीवन ही होती है। जीवन के लिए अमृत होती हैं, जीवन का भविष्य ही होती हैं। कविता या साहित्य जीवन का भविष्य है। जीवन का मनोरंजन नही है। जीवन की उपभोग सामग्री नही है, यह जिन्दगी है, जिन्दगी का ऐसा हिस्सा है जो आता है बहुत सी चीजें नई कर देता है। घाव भी नए करता है लेकिन जब साहित्य घाव नये करता है तो उसमे भी एक ऐसी अनुभूति होती है यह घाव शायद सबको ही करकता होगा न? सबका घाव होने से घाव ऐसा लगता है कि इसके लिए कुछ करना चाहिए। अपना होता है तो केवल खीझ होती है जब सबका होता है तो दूसरे ही प्रकार की प्रक्रिया होती है। तो यह जो काटा गया है, श्रोता मे पाठक बनें सम्प्रषी को काटा गया, स्मृति के जातीय सस्कार से, उसका बडा असर हुआ है, नही तो यदि आज से 50 वर्ष पूर्व प्राइमरी स्कूल मे उद्धव शतक होता था। उत्तरप्रदेश के बारे मे मैं जानता हूं, मैंने प्राइमरी स्कूल मे उद्धवशतक देखा था और उद्धवशतक अच्छी तरह से पढ़ते हुए अपने अध्यापक को सुना था, प्राइमरी स्कूल मे। प्राइमरी स्कूल मे खुसरो की मुकरिया सुनी थी। रहीम के दोहे सुने थे, बरवै सुने थे और उस पर चर्चा सुनी थी इस पर केवल पाच मिनट से केवल दो-तीन बार दोहराकर इसकी सारी व्यजना समझाकर उस समय का मिडिल पास मुदर्रिस हृदयगम करता था। वह आज एम० ए० पास आचार्य नही करता है, साहित्य मे रुचि नही जाग्रत् करता है। ऐसे पढाता है कि जैसे कि इस मशान मे कोई आए और निवट के चला जाये, वैसा साहित्य के संप्रेपण मे कितनी बाधायें हैं उनमे से मैंने दो बताई। एक तीसरी जो बाधा है, वह आलोचक—आलोचक की है, पाठक—आलोचक की नही। वह पढ़ाता नही है, बस आलोचना ही करता है, वह सेतु का काम नही करता है, वह लोगो को कोठरियो मे बंद करने का काम करता है। यह भी अमुक कोठरी का है, यह अमुक कोठरी का है, यह अमुक प्रकोष्ठ का है, यह अमुक प्रकोष्ठ का है, और बन्द कर देता है और उसके बारे मे सारे निर्णय हो जाते है, रचना चाहे उसकी कुछ भी हो। इस कारण साहित्य का संप्रेपण नही हो रहा है, नही तो जिस भाषा का उपयोग मैथिलीशरण गुप्त ने किया, वह बनी भाषा उसके पचास वर्ष बाद की और उस भाषा के समझने वाले जिस भाषा का प्रयोग निराला ने किया वह भी भाषा बनेगी। साहित्य हमेशा भविष्यत् की भाषा मे लिखा जाता है, क्योकि अच्छा साहित्य, साहित्य पहचानता है कि किसका सामर्थ्य क्या है। इस शब्द मे क्या सामर्थ्य है। इस शब्द मे कितने विशेष प्रकार के अर्थ देने का सामर्थ्य है। शब्दों की बहु-अर्थिता पहचानता है और तभी उसका शब्द आगे का प्रचलित शब्द होता है। पर वह पहचान आज इसलिए और कठिन हुई कि हम प्रयोग करते हैं और हमसे कहा जाता है कि आप जो प्रयोग कर रहे हैं, उसका जीवन से कोई सम्बन्ध है। अज्ञेय जी की कविता याद आती है 'क्या करती हो', कुछ नही करती हुं मैं, बीनती हूं, बिनारती हु, छानती हू, कूटती हूं, धोती हूं, पछारती हूं,

बटलोई में रख देती हूं और उसी के साथ मैं अपने को झोंक देती हूं, मैं जिसके आगे परसती हूं जो परसती हूं वह क्या जानेगा मैंने अपने के साथ क्या किया है। तो सारी जिन्दगी मे रहते हुए साहित्यकार भी समझ रहा है। जिन्दगी के साथ मैंने कुछ नही किया, जो देखा है जो सुना है जो समझा है जो बटोरा है वह परसा है मैंने कुछ किया नहीं। मैंने सबका जीवन जिया है, मेरा इसमें क्या है, यह तो मैंने काम सलटाया है लेकिन इस सलटाने के दरमियान मेरे भीतर कुछ घटित हुआ है मैं भी इसमे झोंक दिया गया हूं। मैं भी इसमे पका हूं, और सचमुच जिस लेखक को ऐसा लगता है, वही लोगों को पचता है। उसके बारे में कोई अनुमान नही लगा सकता है, यह गलना, पचना यह मांग करता है कि समाज और कुछ न करे साहित्य पढ़े, पढ़ना बहुत जरूरी चीज है। न पढ़ने के कारण केवल पाठ्य पुस्तक मे पढ़ा जाना पढ़ाया जाना सौभाग्य का विषय नही है, मित्रो! मैं जानता हू कि मैं जिस विधा का लेखक हूं वह विधा कम लोगो तक सीमित है। इसलिए मैं एक तरफ से बहुत भाग्यशाली भी हूं। हाई स्कूल से लेकर एम० ए० तक कन्या कुमारी से लेकर न जाने कहा तक बच्चे पढते है, लड़कियां पढ़ती हैं, मैडम लोग पढ़ाती है अध्यापक लोग पढते है और क्या-क्या दुर्दशा करती हैं। मैं वर्षों से जानता हू कोई भी साहित्य की पंक्ति नही पढ़ता, साहित्यकार के बारे मे पढ़ता है, जानना चाहता है आप कब पैदा हुए मैं तो कभी पैदा हुआ कहीं पैदा हुआ किन परिस्थितियो मे पैदा हुआ, क्या लेना है आपको। आप पर किनका प्रभाव पड़ा है, प्रभाव तो पड़ेगा ही जो अपने दरवाजे खोलकर के रखेगा, तो हवा आयेगी ही चारों तरफ से, हवा आयेगी हवा तो आनी ही चाहिए। प्रभाव न पड़े तो आदमी मुर्दा है। तो प्रभाव पूछेंगे और पंक्ति पूछेंगे कि आपकी पंक्ति आयी है तो कहां से आयी है, आयेगी ही आयेगी। गूंज की अनुगूंज ही तो साहित्य है। हम सभी लोग किसी जमीन पर ही लिखते हैं हमारे पीछे आधार हमारी जमीन है इतनी लंबी साहित्य की यात्रा 5-6 हजार वर्षों की यात्रा उससे कटकर कहां जाय। चाहे निजंधरी गाथाएं हो, चाहे लोकगीत हों, कवितायें हों, जो सुना है जिसमें रमा हूं, उनके बिना लिखूगा कैसे? उन्हीं शब्दों में तैरते हुए हमें कुछ सहारा कही मिलता है और उसके शब्दों के साथ हम न तिरे तो मिलेगा ही नही। लेकिन लोग यह नही पूछेंगे कि क्या लिखा है या बहुत कम पूछते हैं कि आपने क्यो लिखा? यह शब्द क्यों लिखा। यह कहानी कैसे लिखी, कहां से प्राप्त हुई। सही प्रश्न करने वाले अनपढ़ होते हैं। मैं जानता हूं कि रेडियो पर जो वार्ता देता हूं तो कभी-कभी किसी मुसलमान ऑपरेटर का पत्र आता है कि आपने जो यह लिखा, तो मेरी बात आपने कैसे लिख दी। मैं समझता हूं कि काश उसकी प्रतिक्रिया जैसी प्रतिक्रिया अध्यापक की होती। लेखक ने जो लिखा है कही साझेदारी उसमे है कि नही। उसके जीवन के साथ समुचित जीवन के साथ अगर साझेदारी है उसको मिलता है तो सुख मिलता है और अगर पछतावा भी मिलता है

यह तुमने क्या किया। इस पात्र को उसके साथ ऐसा क्यो किया ? अर्थात् वैसे ही पात्र के साथ सहानुभूति जगाने का उद्देश्य पूरा होता है तो संप्रेषण भी होता है और साहित्यकार को लिखने के लिए एक सतोष मिलता है, जब पाठक कहता हैं साहब मैं भी लिख सकता हूं पर क्या करूं लिख नही मिलता। वह सोचता है कि लिखने मे और न लिखने मे और कोई फर्क नही है सिवाय इसके कि एक ऐसे ही लिखना हो जाता है जो लिखे बिना नही रहा जाता, क्योकि बिना ऐसी विवशता के कि आदमी से अपने तक अपने अनुभव का कोश बाटकर के रखा न जा सके, लिखना लिखना नही है, दूसरा बस बैठक लगाकर लिखा जाता है, आज लिखने का दिन है। वह लिखना बस यो ही लिखना है।

तमाम अनाम पात्र, अनाम चित्र अनाम वस्तुए मन मे भरती हैं क्योंकि कोई वस्तु छोटी नही है साहित्य मे सब सम्राट होकर आती है, चाहे वनस्पति जगत् हो, चाहे पक्षी जगत् हो, पशु जगत् भी हो, स्थान हो, इतिहास हो, वस्तु के रूप मे साहित्य मे कुछ नही आता है, सब कुछ बदल कर आता है, सम्राट् होकर आता है, एक पिरोदिलो का नाटक मैंने पढ़ा था। छ. पात्र लेखक से बहस करते हैं जब पात्र कहते हैं मैं इस प्रकार का पात्र हूँ, मैं इस प्रकार का पात्र हूँ, मेरा भी नाटक मे भी समावेश करो, मेरा भी समावेश करो अर्थात् एक प्रयास के ढग मे सोचा गया है उसे उस नाटक मे से सारे पात्र लेखक को क्यो खोज रहे है, क्योकि लेखक जिम्मेवार है और लोग देखें न देखे लेकिन इन तमाम तरह के पात्रो को देखने की जिम्मेवारी है लेखक की। देखा क्यो नही, तुमने हमारा अनदेखा क्यो किया ? मैं जो तुम्हारे अन्दर सुलगता रहा हूँ, सुलगता हूँ इस पात्र के रूप मे तुम्हे कही जलाता रहा हूँ तुमने कैसे अनदेखा किया। मैंने तुमको कितना बनाया, कितना कुरेदा है क्यो उपेक्षा करते हो। ऐसे पात्रो के घेरे मे पडा रहता है लेखक, जीवन के चारो ओर के देश परदेश के घेरे मे पड़ा रहता है और सबके प्रति उसका उत्तरदायित्व है और इस दायित्व के कारण ही लेखक होना बड़े विरोग की बात है। मैंने पहले भी जिक्र किया था जो सबकी बात सुनेगा, सबकी बात कह नही सकेगा, सबकी बात उसकी बात को होकर आयेगी नही। वह सब मे है लेकिन वह नही है उस रूपान्तरित उसकी बात उससे करनी होगी जो अभी न समझी जाएँ गलत समझी जाए, गलत समझे जाने के कारण खतरा उसे उठाना होगा पर पहले सबकी बात हो। लेखक की ईमानदारी यही कहती है कि हमे सबके प्रति निष्ठा होनी चाहिए, उसकी बात उसे करनी होगी और गलत समझने जाने का खतरा उठाकर करनी होगी। लेखक की ईमानदारी यही कहती है कि जांचो, किसके प्रति प्रतिबद्ध हो, आज के प्रति प्रतिबद्ध हु, आज के सामाजिक व्यवहार परक सिद्धांत के प्रति प्रतिबद्ध हूँ। सबसे प्रभावशाली राजनीतिक के प्रति प्रतिबद्ध हूँ। मैं तो समझता हूँ कि लेखक की प्रतिबद्धता उस प्रक्रिया के प्रति है जो जाचती रहती है, हर चीज के हर मुलम्मे

को जांचती रहती है। उस जांच की प्रक्रिया के प्रति लेखक की प्रतिबद्धता है और वह जांच की प्रक्रिया सबको मिली रहती है शुरू से। अपने पूर्ववर्तियो से मिली रहती है, जांच सबकी अलग अलग होगी, प्रक्रिया मिली होती है कि जिस ज़माने मे रह रहे हो उस जमाने की जांच कर रहे हैं, जिन मूल्यो में जी रहे हैं उन मूल्यो के सतहीपन या गहराई की जाच करो, कहाँ तक सतही है? कहाँ तक गहरे हैं? कोई आत्यन्तिक सतही या गहरा नही होता। उस जांच की प्रक्रिया को यदि हम निष्ठा का केन्द्र मानें तो बात हमे समझ मे आती है। मैं समझता हूँ कि ऐसा विश्वासघात कोई लेखक नही करते हैं और विश्वासघात वे करते हैं तो सही रूप से उस प्रक्रिया की जाँच को अनदेखा करते हैं, उनकी बेईमानी यह है कि उन्होने जाँचा नही, दूसरे के जाँचे हुए परिणाम को अपना बनाकर के प्रस्तुत किया, यही वैज्ञानिक की भी बेईमानी है कि दूसरे के द्वारा जांचे हुए तथ्य को सिद्ध मानकर चलता है और कहता है कि मैं वैज्ञानिक हूँ मेरा वैज्ञानिक प्रभाव है और मैं तो जाँची हुई चीज पर चलता हूँ, बिना जाँची हुई चीज पर नही चलता हूं, ठीक है वैज्ञानिक जाँचता है। दृश्य, स्थूल, सूक्ष्म भौतिक-साधनो से रचनाकार जाँचता है दूसरे साधनो से पर दोनो सच है और जाँचने का मनोभाव दोनो मे समान है, लेकिन रचनाकार कोई जब कल्पना देता है जांच करके तो कहा जाता है, कल्पना लोक का निवासी है, फैंटेसी है, असत् है। वैज्ञानिक दृष्टि से सच नहीं है। उलट-कर हम कह सकते हैं कि वैज्ञानिक यदि कोई जांचता है तो और उसे अन्तिम सत्य के रूप मे प्रतिपादित करता है यदि यही सत्य है तो हम कह सकते हैं कि यह स्थूल सत्य है लेकिन यह ऐसा अनिश्चित रह गया है जो कि परीक्षा के दायरे में नहीं आता है कही कुछ अनिश्चितता है। अगर वह अनिश्चितता न हो तो विज्ञान की यात्रा चुक जाए और आधुनिक विज्ञान अनिश्चितता को स्वीकार करता है। नियतपूर्वता को अस्वीकार करता है उसका प्रत्याख्यान करता है और इसलिए आज का वैज्ञानिक सही वैज्ञानिक है न्यूटन के नियमो से बंधा हुआ वैज्ञानिक सही नही।

यह विज्ञान का ढर्रेदार अध्यापक नही या विज्ञान से प्रताड़ित करने वाला राजनेता नही, सही वैज्ञानिक उस अनियतता को स्वीकार करता है, सही वैज्ञानिक वस्तुओ की परस्पर साकाक्षता को स्वीकार करता है, परस्परपूरकता को स्वीकार करता है। नियत रूप से विरोधिता को, जो केवल सतह पर दिखती हैं अस्वीकार करता है। वस्तुतः आकर्षण और विकर्षण एक ही प्रक्रिया है और इसलिए जहा पर दोनो को जाने बिना कोई चीज स्वीकार की जाती है वहां पर प्रयोग की इति होती है। हर प्रयोग अथ होता है, इति नही होती है। और उस प्रकार की दृष्टि ही काव्य की दृष्टि है, साहित्य की दृष्टि है। हमने जो पाया है, जो अपनी जाच प्रक्रिया से अपने को देकर अपना सीस चढ़ाकर पाया है उसे मैं अपना सत्य कहूं

गलत है, लेकिन मैं उसे कोई दिया गया सत्य कहूं यह भी गलत है। लेकिन सबका सत्य मेरी आंच मे पककर आया हुआ सत्य है। इस दृष्टि से मैं निवेदन करूंगा और विज्ञान साहित्य मे जो अन्तर है वह केवल साधन का अन्तर है दृष्टि का नही है। जो तकनीक है और जो खासकर के तकनीक के लोभ मे अतिशय लोग में विज्ञान की बिक्री है उसमे यदि साहित्यकार चिन्तित है कही ये मायजाल हमने खडा किया है हमारी रचना कही हमको ही न खा जाय। कही इस कीमत पर यह रचना न आगे बढे कि यह शैतान बनकर के हममे गुलामी कराये स्थिति आज वही है कि भाग के ससार मे फसते चले जा रहे है एक ऐसी भूख मे फंसते चले जा रहे है जो हमारे ऊपर आरोपित हैं विज्ञापनो के द्वारा। हमारी जरूरत नही है, लेकिन हमे सिखाया जाता है कि तुम्हारी जरूरत है. खाओ, खाओ, खाओ। अपने साधनो, अपने स्रोतो, अपनी आवश्यकताओ को अनदेखा करते हुए, जो जरूरत हमारे ऊपर लादी जाती है और उनके लिए जो सामान कूडेदान मे फेंकने के लायक सामान हमे दिया जाता उसे खरीदो और उससे हम मुक्त नही हो पाते। हम छटपटाते हैं मुक्त नही हो पाते है। उस छटपटाहट का अनुभव करने का दायित्व कहा है ? यह कहा जाता है कि ऐसे लोग तकनीकी के विरोधी है। तकनीकी प्रगति का विरोधी कोई नही होता है। तकनीकी तो जब से आग का आविष्कार हुआ है तब से चली आ रही है परन्तु तकनीकी कैसी है जिसके लिए है, यह जब तक विचार न हो, उपभोग उपभोक्ता का रूप जब तक सामने स्पष्ट न हो, जब तक उसका नक्शा स्पष्ट न हो सामने, तब तक तकनीकी अपने आप मे साध्य नही है, वह केवल साधन है। मनुष्य के जीवन को बेहतर बनाने के लिए साधन है, लेकिन जीवन को बेचकर नही, जीवन को गिरवी रखकर के नही, जीवन को साधने के लिए है वह जीवन को असाधने के लिए नही है। ऐसा विचार करने वाले इस चिंता की बड़ी गहरी जडो मे जाते हैं। जब सब कुछ सूख जाता है कही बादल नही, पानी नही, नदी नही तो आदमी जडो की तलाश करता है। आज के साहित्य मे इन जड़ो की चिंता हुई है, आदिम गाथाओ की, आदिम गीतियो की आदिम नृत्य के रस की तलाश हुई है। आदिम जीवन की सादगी की तलाश शुरू हुई है। यह पीछे जाना नही है यह वस्तुतः अपनी सम्पूर्णता को पहचानने के लिए नया प्रयत्न है और खतरा तो है कि हम पीछे चले जाए, हम पलायन कर जायें लेकिन इस खतरे को मोल लेंगे नही हम तो हम आगे जम नही पायेंगे आगे न ले जा पायेंगे, आगे की मनुष्य की नियति को पहचान नही पायेंगे। इसकी पहचान के लिए पूरे रस स्रोत को गहरी से गहरी पहचान हमे करनी है जीवन के रस की तलाश करनी है और इस तलाश करने में खीज होती है, लगता है बडी व्यर्थ है, सब कुछ व्यर्थ हैं। इस व्यर्थता की अनुभूति मे यदि असहायता निरुपायता लगती है और उस निरुपायता मे बड़ी तीव्रता का दंश होता है कि मनुष्य की नियति कैसी है, तो वह शुभ है, अशुभ नही।

सही सचाई की तलाश का तकाजा है कि यह जानते हुए भी कि उपहास का पात्र बन सकता हूं कि उदास क्यों हो तुम खामखां उदास क्यों रहते हो तुम मजा बिगाड़ते हो ? सारी दुनिया में रंगरेली है, तुम मजा बिगाड़ रहे हो, सही मजे के लिए नकली आरोपित मजे को बिगाड़ें। रचनाकार का मजा तो बसन्त में ही बिगड़ता है। नई सृष्टि में ही उसे अधिक चिंता होती है। बसन्त में ही विरह सबसे अधिक तीव्र होता है। चैत में ही उनमनापन सबसे अधिक आता है, पर कारण है कि यह अनमनापन, यह विषाद अपना नही होता, सबका होता है, इति नही होता, अथ होता है, सब पत्ते झड़ रहे होते हैं, पेड़ नंगे हो रहे होते हैं, सबके साथ मैं कही नंगा हो रहा होता हूं, उसी नगेपन में एक उस अपने ही पत्तो के दूर जाने में व्यथा कुछ दूसरी है बडी व्यापक व्यथा है। उस व्यथा के साथ होना शुभ का प्रारम्भ है, मंगल का प्रारंभ है, क्योंकि शुभ का प्रारंभ इस व्यापक गहरे दु.ख के साथ होता है और ऐसी उदासी ईमानदारी की उदासी होती है। ऐसा संशय ईमानदारी का संशय होता है। आज के सही व्यक्ति का आज के लेखक का संसार ऐसे संशयो का संसार है और उन संशयो से उबरने का सुगम रास्ता नही है, वडा ही जटिल रास्ता है, इसके बावजूद वह रास्ता हममें से अधिकांश तलाश रहे हैं, टटोल रहे हैं। तलाशने की भाषा हमेशा कुछ लंगडी होती है और उस लंगडी भाषा को आदर यदि तथा-कथित पडा-लिखा आदमी भी नही देगा तो कैसे हम आशा करे कि उसके माध्यम से जहां हम पहुंचना चाहते हैं, अनपढ़ तक, वहां तक हम पहुंचेंगे क्योकि अनपढ तक पहुंचने का माध्यम पढ़ा-लिखा आदमी है। अनपढ़ को पढ़ाना चाहता है पढ़ाने का दभ रखता है। स्वयं अशिक्षित होते हुए उसको शिक्षित करने का दंभ भरता है। वह स्वय जब चाव नही रखता, वह स्वयं जब इन खतरो के साथ जुडता नही है, भागना चाहता है, मोमबत्तियो की रोशनी मे खाये जाने वाले डिनर मे या पाप सगीत मे भागना चाहता है तो उससे कैसे आशा करें। और मुश्किल यह है कि वही हमारी आशा है। उसके सहारे पहुंचना है, दिगंत में उसके सहारे पहुंचना है, काल के पास, मैं उसकी सहायता चाहता हू और मैं यह जानता हू कि जो सही विज्ञान मनोभाव का है उसे कोई भी खतरा नही। साहित्य को उसमें चिंता करने वाली बात नही है क्योकि वह साहित्य के उसी रास्ते पर है जो रास्ता अपने को निरंतर काट-छांट कर बनाया जाता है, खतरा है उस अनपढ़े विज्ञान के मनोभाव वाले आदमी से जो विज्ञान के अंधविश्वास में जीता है, जो विज्ञान में नही जीता है उस आदमी से उतरा है, क्योकि वह आदमी तिरस्कार करता रहता है कि साहित्य से किसी के घर की रसोई नही बनती, नहीं वनती है लेकिन मां रोटी वनाती है तो वही सामग्री रहती है, उस रोटी मे स्वाद होता है उसी तरह से जिस जीवन के अनुभव के साथ साहित्य की पक्ति जुड जाती है, उस जीवन में स्वाद होता है। यह अनुभव यदि आप पढ़े-लिखे आदमी से करे तो निश्चय ही सम्प्रेपण कुछ दूसरे

प्रकार का होगा। आपने बड़े ध्यान से मेरी बात सुनी, मैं आपके प्रति कृतज्ञ हूँ। मैं मैं पुनः कहता हू और ज़ोर देकर कहता हू कि मेरी निष्ठा अपनी जातीय स्मृति से, और उस जाच की प्रक्रिया मे है जो निरतर अपना शीश उतारने पर बल देती है और निरतर बड़े से बड़े को तोलने के लिए हमको प्रेरित करती है। यही साहित्य की सतत न चुकने वाली पहचान है।

□□